आयुर्वेदके आविर्भावक पितामह ब्रह्मा

पितामहका वात्सल्य—ब्रह्माजी पिताओंके पिता हैं। इसलिये हम लोग इन्हें पितामह कहा करते हैं। कहा जाता है कि संततिपर पितासे भी बढ़कर पितामहका स्नेह होता है। यह कहावत अपने पितामह ब्रह्माजीपर ठीक-ठीक चरितार्थ होती है। ये अपना स्नेह हमपर अनवरत बरसाते ही रहते हैं। यदि कभी हम अपने पथसे विचलित होने लगते हैं तो इनके हृदयको ठेस पहुँचती है और ये किसी-न-किसी रूपमें हमें सावधान कर देते हैं।

एक बार पिप्पल नामके एक तपस्वीने दशारण्यमें कठिन तपस्या की। उन्होंने तीन हजार वर्ष केवल वायु पीकर व्यतीत किये। वह तपस्या बहुत ही कठोर थी। उससे देवता प्रसन्न हो गये। देवताओंने उनसे वर माँगनेको कहा। पिप्पलने पहला वर यह माँगा कि सम्पूर्ण संसार मेरे वशमें हो जाय। देवताओंने उन्हें वह वर दे दिया। इस वरकी उन्होंने परीक्षा की। परीक्षा सफल हुई। तपस्वी पिप्पल जिसे-जिसे चाहते, वह-वह उनके वशमें हो जाता। इस सिद्धिसे तपस्वी पिप्पलमें अहंकारका अङ्कुर फूटने लगा। वे सोचने लगे—'विश्वमें मेरे समान कोई नहीं है।' पितामह ब्रह्मा उनके तपोमय जीवनसे बहुत प्रसन्न थे। किंतु जब उन्होंने देखा कि उनकी यह संतति विनाशकी ओर बढ़ रही है तो उनके हृदयमें वात्सल्यभरी घबड़ाहट उत्पन्न हो गयी। वे झट सारसका रूप धारण कर तपस्वी पिप्पलके पास आ पहुँचे और बोले—'अबतक तो तुम ठीक रास्तेसे जा रहे थे, किंतु अब तुम अहंकारके वशमें क्यों हो रहे हो? इससे तुम्हारी बहुत बड़ी क्षति होगी। सच पूछा जाय तो तुम्हारा यह अहंकार भी झूठा है; क्योंकि तुमसे भी बड़ी सिद्धि पानेवाले लोग पृथ्वीपर विद्यमान हैं। तुम तो ब्रह्मके केवल अर्वाचीन रूपको ही जान पाये हो। उनके प्राचीन तत्त्वके सम्बन्धमें तुम कुछ नहीं जानते। अत: तुम्हारा अहंकार व्यर्थ है। इन दोनों तत्त्वोंका सच्चा ज्ञाता तो केवल पितृभक्त सुकर्मा है। अवस्थाकी दृष्टिसे वह निरा बालक है और तुम उससे हजारों वर्ष बड़े हो, किंतु पितृभक्तिसे सम्पूर्ण विश्व जितना उसके वशमें है, उतना तुम्हारे वशमें नहीं। तुम सुकर्मासे मिलो।'

ब्रह्माजीकी ऐसी चेतावनीसे पिप्पलका अगला जीवन प्रकाशपूर्ण हो गया।

इसी तरह जब हमपर कोई ऐसी विपत्ति आती है, जो हमारे कर्मके परिणामरूपमें प्रकट होती है और जिसे हमारे पितामह ब्रह्मा भी नहीं टाल पाते, तब हमारी सफलताके लिये वे भगवान्से प्रार्थना करते हैं। ऐसी घटनाओंसे इतिहास भरा हुआ है। ये सब उदाहरण पितामह ब्रह्माके हमारे प्रति वात्सल्यके नमूने हैं।

यदि हम पितामहकी जीवनीके पिछले पन्ने पलटते हैं तो देखते हैं कि हमारे स्नेहमें आकर हमारे लिये उन्होंने कठोर-से-कठोर तप किये हैं—बड़े-बड़े कष्ट झेले हैं। पहले पृष्ठपर हम देखते हैं कि ये कमल (ब्रह्माण्ड)-की कर्णिकापर बैठे हैं और चिन्तामें निमग्न हैं। वह चिन्ता, जो इन्हें सता रही थी, अपने लिये नहीं थी, अपितु हम लोगोंके लिये ही थी। वे हमें उत्पन्न करना तथा हमारे खान-पानकी व्यवस्था करना चाहते थे और चाह रहे थे कि हम कैसे स्वस्थ रहें। यही उनकी चिन्ता थी—'**सिसृक्षयैक्षत**' (श्रीमद्भा० २।९।५)। फिर वे चारों तरफ देखने लगे कि सृष्टि-रचनाके लिये कौन-से साधन विद्यमान हैं। तब उन्हें केवल पाँच वस्तुएँ ही दीख पड़ीं—कमल (ब्रह्माण्ड), जल, आकाश, वायु और अपना शरीर (श्रीमद्भा० ३।८।३२)। इनके अतिरिक्त उन्हें और कुछ न दीखा। अब उनके सामने यह समस्या थी कि सृष्टि किससे करें और कैसे करें? उन्हें कोई उपाय सूझ नहीं रहा था। तब भगवान्ने उनको तपस्या करनेकी आज्ञा दी। आदेश पाकर ब्रह्माजी तप करने बैठ गये। इस तपस्याका फल यह हुआ कि भगवान्ने उन्हें दर्शन दिया और फिर तप करनेके लिये आदेश दिया। तपस्या जब पूर्णतापर पहुँचनेको हुई तो वेदके अर्थ, जो पुराण हैं, उन्हें याद आ गये। जैसे पुनर्जन्मकी स्मृति होनेपर पहले जन्मके माता-पिता, गाँव, घर, भाई आदि याद आने लगते हैं, वैसे ही पितामह ब्रह्माको पुराकल्पके इतिहासके साथ-साथ ऐतिहासिक पदार्थोंके स्वरूप, नाम और सम्बन्ध आदि याद आ गये। उन्होंने किस-किस

वस्तुको बनाना है और उसका स्वरूप क्या है, उसका नाम क्या है—इस समस्याको सुलझा लिया। इस तरह हमारे खाने-पीने, पहनने और स्वास्थ्यमें उपयोग आनेवाले पदार्थ उनको याद आ गये, किंतु इनको बनानेकी क्षमता अभी उनमें नहीं आयी थी; क्योंकि किसी पदार्थको बनानेकी क्षमता वेदके शब्दोंमें होती है[1] न कि उनके अर्थोंमें और ब्रह्माजीको अभीतक केवल वेदके अर्थ याद आये थे शब्द नहीं सुनायी पड़े थे—'**पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्**' (मत्स्यपुराण ३।४)।

इस तरह हम ब्रह्माके मनमें तो उपस्थित हो चुके थे, किंतु जगत्‌में उत्पन्न नहीं हुए थे; क्योंकि किसी वस्तुको केवल वेदके शब्द ही उत्पन्न कर सकते हैं, अर्थ नहीं।

हमारी उत्पत्तिके लिये ब्रह्माजीको फिर तप बढ़ाना पड़ा। इस प्रकार ब्रह्माजी हमारे लिये कष्ट-पर-कष्ट झेलते रहे। जब तप पूर्णतापर पहुँचा, तब भगवान्‌के द्वारा प्रसारित वेद नित्य स्वर, नित्य शब्द और नित्य अर्थोंके साथ ब्रह्माको सुनायी पड़ा। ब्रह्मा श्रुतधर थे, इसलिये आनुपूर्वी और उदात्त आदि स्वरोंके उच्चारणके साथ वेद उन्हें सुनते ही याद हो गया। अब हमारे पितामह ब्रह्माके पास वह शक्ति आ गयी थी कि वेदके शब्दोंके द्वारा किसी पदार्थका निर्माण कर सकें।

सृष्टिकी उत्पत्तिके पहले उन्होंने वेदके अर्थोंको, जो कि उनको स्मृत हुए थे, अपने शब्दोंमें बाँध लिया। इस ग्रन्थका नाम पुराण पड़ा। उसमें एक लाख श्लोक थे। इसके बाद जब उदात्त आदि स्वरोंके साथ उनके चारों मुखोंसे चारों वेद निकले, तब उन श्रुत शब्दों और स्मृत अर्थोंकी सहायतासे उन्होंने आयुर्वेदका ग्रन्थ बनाया। उसमें भी उन्होंने एक लाख ही श्लोक बनाये थे। आचार्य सुश्रुतने इस तथ्यको स्पष्ट किया है—

'**इह खल्वायुर्वेदं नामोपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूः**'

(सु०सं०सू० १।६)

अर्थात् ब्रह्माजीने अथर्ववेदके उपाङ्गस्वरूप आयुर्वेदको एक लाख श्लोकोंमें ग्रथित किया था, जिसमें एक हजार अध्याय थे।

इस तरह सृष्टिकी उत्पत्तिके पहले ही ब्रह्माजीने हमें नीरोग रखनेके लिये शाश्वत आयुर्वेदको अपने शब्दोंमें ग्रथित कर लिया था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पितामह ब्रह्मा आयुर्वेदके आदि आविर्भावक थे।

परम्पराका निर्माण

जीवनके साथ आयुर्वेदका गहरा सम्बन्ध होनेके कारण पितामह ब्रह्माने आयुर्वेदके पठन-पाठनकी परम्परा स्थापित की। ब्रह्माजीने इस चिकित्सा-शास्त्रको अपने मानसपुत्र दक्षको और दक्षने अश्विनीकुमारोंको तथा अश्विनीकुमारोंने देवराज इन्द्रको पढ़ाया। इस तरह यह परम्परा आजतक चलती चली आ रही है।

ब्रह्माद्वारा औषधका प्रयोग

यद्यपि आयुर्वेदके मूल आविर्भावक और प्रथम ग्रन्थकार पितामह ब्रह्मा हैं, फिर भी इन्होंने इसको अपने जीवनमें प्रयोगरूपमें नहीं आने दिया। इसके प्रयोगका पूरा भार अश्विनीकुमारोंपर डाल दिया तथापि इनके अन्तरङ्ग जीवनमें एक ऐसी घटना घटी कि इनको भी औषधका प्रयोग करना पड़ा—

ब्रह्माजीकी एक पुत्रीका नाम सीतासावित्री था। पितामहकी यह लाडली कन्या थी। वे चाहते थे कि इसका विवाह सोमसे हो, किंतु सोमका आकर्षण सीतासावित्रीपर न था। इधर पिताकी तरह पुत्री भी सोमको ही चाहती थी। परंतु अपने ऊपर सोमका आकर्षण न देखकर बेचारी चिन्तित रहने लगी। अन्तमें उसने पितासे इसके लिये सहायता माँगी। तब ब्रह्माने अपने औषध-ज्ञानका उपयोग किया। '**स्थागर**' नामक वनस्पतिका उपयोग उन्होंने इस कार्यमें किया। यह ओषधि बहुत ही सुगन्धित और आकर्षक भी होती है। इसमें वशीकरणकी छिपी हुई बहुत बड़ी शक्ति है। पिताने इस 'स्थागर' वनस्पतिको घिसकर और अभिमन्त्रितकर[2] पुत्रीको टीकाकी तरह लगा दिया।

---

१. (क) तत्र तत्र शब्दपूर्विका सृष्टि श्राव्यते। (ब्रह्मसूत्र १।३।२८ शाङ्करभाष्य)
   (ख) ते हि शब्दपूर्वां सृष्टिं दर्शयतः। (ब्रह्मसूत्र १।३।२८ शाङ्करभाष्य)

२. वेदने ओषधियोंमें अधिदेवत्व स्वीकार किया है। उसने ओषधियोंसे प्रार्थना की है कि 'हे ओषधियो! तुम मेरे रोगको दूर करो' (यजु० १६।५)। अभिमन्त्रित करके ही औषधका प्रयोग करना चाहिये।

इसके बाद पुत्रीको सोमके पास भेज दिया।

वनस्पतिने अपना अद्भुत चमत्कार दिखाया। सोम, जो सीतासावित्रीसे खिंचा-खिंचा रहता था, इसपर न्योछावर हो गया। इसे जीवनसंगिनी बनानेके लिये उसने आकाश-पाताल एक कर दिया।

ब्रह्माजी यही चाहते थे। 'स्थागर' वनस्पतिने उनकी और उनकी पुत्रीकी सारी चिन्ता मिटा दी।

(तैत्तिरीय आरण्यक)

अग्निका अजीर्ण

यह तो पितामह ब्रह्माजीके द्वारा वनस्पतिके प्रयोगकी बात हुई, पितामह कभी-कभी किसी दवाका प्रयोग न कर रोगके नाशका उपाय भी बता दिया करते थे।

एक बार अग्निदेवको अजीर्ण-रोग हो गया, किसीका हविष्य ग्रहण करनेकी उनकी इच्छा ही नहीं होती थी। शरीरमें विवर्णता आ गयी, कान्ति फीकी पड़ गयी। पहलेकी तरह वे प्रकाशित भी नहीं हो रहे थे। धीरे-धीरे उनके मनपर ग्लानिने अधिकार जमा लिया। अग्निदेव समझ गये कि हमें रोग लग गया है, इसकी चिकित्सा होनी चाहिये। चिकित्साके लिये वे ब्रह्माजीके पास पहुँचे। अग्निदेवने पितामह ब्रह्मासे अपनी अरुचि-रोग होनेकी बात बतायी। पितामह ब्रह्माने सबसे पहले निदान करते हुए बताया—'महाभाग! तुमने बारह वर्षोंतक वसुधाराकी आहुतिके रूपमें प्राप्त हुए घृतका निरन्तर उपयोग किया है, इसीसे तुम्हें यह अरुचि-रोग हो गया है। तुम चिन्ता न करो, स्वस्थ हो जाओगे। मैं तुम्हारी अरुचि नष्ट कर दूँगा—'**अरुचिं नाशयिष्येऽहम्**' (महा० आदि० २२२।७४)। तुम खाण्डववनको जलाओ, वहाँ कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं, जो तुम्हारे लिये ओषधि बन जायँगी और तुम स्वस्थ हो जाओगे।'

पितामह ब्रह्माका बताया हुआ औषध पूर्णतया सफल रहा और अग्निदेव पूर्ण स्वस्थ हो गये।

आयुर्वेद सभी प्राणियोंके लिये

ब्रह्माजीने जिन प्राणियोंकी सृष्टि की, उन्हें चार श्रेणियोंमें बाँटा गया है—(१) उद्भिज्ज, (२) स्वेदज, (३) अण्डज और (४) जरायुज। इन चार श्रेणियोंके प्राणियोंके उपयोगमें आनेवाले औषधोंका ब्रह्माजीने अपने आयुर्वेद-ग्रन्थमें वर्णन किया। वनस्पतियोंके लिये वृक्षायुर्वेद, जन्तुओंके लिये तिर्यगायुर्वेद, पशुओंके लिये गवायुर्वेद, अश्वायुर्वेद, हस्त्यायुर्वेद आदि तथा मनुष्यों और देवता आदिके लिये आयुर्वेद बनाया।

इस तरह प्राणियोंके खाने-पीने और स्वस्थ रहनेके लिये उनकी उत्पत्तिके पहले ही लोकपितामह ब्रह्माने व्यवस्था कर दी थी।

तीनों देव वैद्य

एक ही तत्त्व उत्पत्ति, स्थिति और संहारके लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिव—इन तीन रूपोंमें आया है। इस दृष्टिसे ब्रह्माको जब आयुर्वेदका आविर्भावक माना जाता है, तो रुद्र और विष्णुको भी आयुर्वेदका आविर्भावक मानना ही पड़ता है। सृष्टिके आदिमें एक ऐसी घटना घटी, जिससे इस सिद्धान्तका पूरा समर्थन होता है।

इस घटनाका श्रीमद्भागवत (४।१)-में उल्लेख है। ब्रह्माजीने अपने मानसपुत्र अत्रिको सृष्टि बढ़ानेके लिये आज्ञा दी। श्रेष्ठ महर्षि अत्रि अच्छी संतति हो, इस उद्देश्यसे अपनी पत्नीके साथ तप करनेके लिये ऋक्ष नामक पर्वतपर गये। वहाँ सौ वर्षोंतक केवल वायु पीकर एक ही पैरपर खड़े होकर भगवान्‌की उपासना करने लगे। वे मन-ही-मन भगवान्‌से प्रार्थना कर रहे थे कि 'जो सम्पूर्ण जगत्‌के ईश्वर—जगदीश्वर हैं, मैं उनकी शरणमें हूँ, वे अपने समान ही मुझे पुत्र प्रदान करें।'

तपस्या जब सीमापर पहुँच गयी, तब ब्रह्मा, विष्णु और महेश—ये तीनों देव अत्रिके आश्रमपर पधारे। अत्रिने पृथ्वीपर लेटकर उन्हें प्रणाम किया, फिर अर्घ्य-पुष्पादिसे उनकी पूजा की। इस पूजासे वे तीनों देव बहुत प्रसन्न हुए, उनकी आँखोंसे कृपाकी वर्षा होने लगी। वे मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे, उनके तेजसे महर्षि अत्रिकी आँखें मुँद गयीं और हृदयमें हर्षका सागर लहरा गया। उन्होंने तीनों देवताओंकी स्तुति की। अन्तमें पूछा—'मैं जिन जगदीश्वरको बुला रहा था, आप तीनोंमेंसे वे कौन हैं? क्योंकि मैंने एक ही जगदीश्वरका चिन्तन किया था, फिर आप तीनोंने

यहाँ पधारनेकी कृपा कैसे की? इस रहस्यको मैं जानना चाहता हूँ।'

इस प्रश्नको सुनकर तीनों देव हँस पड़े और बोले—'मुनिराज! तुम सत्यसंकल्प हो, अतः तुम्हारे संकल्पके विपरीत कैसे हो सकता है? तुम जिन जगदीश्वरका ध्यान कर रहे थे, उन्हीं जगदीश्वरकी हम तीन विभूतियाँ हैं। हम तीनों ही जगदीश्वर हैं।

इस घटनासे स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेशमें कोई अन्तर नहीं है। इस तरह ये तीनों देवता चिकित्साशास्त्रके प्रवर्तक माने जाते हैं। फिर भी वेद और पुराणने भगवान् शंकरको वैद्योंका वैद्य कहा है।

(ला०बि०मि०)

चिकित्सकोंके चिकित्सक भगवान् शिव

[प्रथमो दैव्यो भिषक्]

भगवान् रुद्रने ओषधियोंका निर्माण करके जगत्का इतना कल्याण किया है कि वेदने भी भगवान् शङ्करके सम्पूर्ण शरीरको ही भेषज मान लिया है। कहा है कि—

या ते रुद्र शिवा तनू शिवा विश्वस्य भेषजी।
शिवा रुद्रस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे॥

(तै०सं०रु० २)

सचमुच आयुर्वेद भगवान् शिवके रूपमें ही अभिव्यक्त हुआ था, इसलिये भगवान् शङ्करके पास मृतसंजीवनी नामकी ऐसी विद्या थी, जो और किसीके पास नहीं थी। इस विद्यासे मरे हुए प्राणियोंको जीवित किया जा सकता है। इस विद्याको भगवान् शङ्करने शुक्राचार्यको दिया था।

सर्वविदित है कि अंगिरा और भृगु—ये दोनों प्रख्यात ऋषि हैं। इनके विषयमें प्रसिद्धि है कि इन दोनोंके एक-एक पुत्र हुए। अंगिराके पुत्रका नाम था जीव और भृगुके पुत्रका नाम था कवि। जब दोनोंका यज्ञोपवीत-संस्कार हो गया, तब दोनों ऋषियोंने आगेका कर्तव्य निश्चित किया। उसमें यह निर्णय हुआ कि हम दोनोंमेंसे कोई एक इन दोनोंको पढ़ायेगा और दूसरा अन्य कार्य करेगा। अंगिराने कहा—'कविको भी मैं अपने पुत्रके साथ पढ़ाऊँगा।'

भृगुने यह सुनकर कवि (शुक्र)-को अंगिराकी सेवाके लिये सौंप दिया। किंतु अंगिरा गुरुके पथसे डिग गये। वे अपने पुत्र जीव (बृहस्पति)-को शुक्रसे अधिक विद्वान् बनानेके लिये एकान्तमें पढ़ाने लगे। शुक्रको यह भेद-भाव अच्छा न लगा। शुक्रने गुरुके चरणोंको पकड़कर क्षमा-याचना करते हुए कहा—'गुरुजी! आप अपने कर्तव्यसे डिग गये हैं। किसी भी गुरुको पुत्र और शिष्यमें भेदभाव नहीं रखना चाहिये, किंतु उस भेदभावको आप कर रहे हैं, इसलिये मैं चाहता हूँ कि आप मुझे अपनी सेवासे मुक्त कर दें। मैं किसी और गुरुके यहाँ जाऊँगा।'

शुक्र मेधावी बालक थे। उन्होंने सोचा कि विद्या-ग्रहण करनेके पहले पिताजीके पास चलना ठीक नहीं है। पिताजीको प्रसन्नता तब होगी, जब योग्य बनकर ही उनके पास पहुँचूँ। वे अच्छी-से-अच्छी विद्या प्राप्त करना चाहते थे, इसलिये उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की कि हे भगवन्! ऐसे किसी महापुरुषका दर्शन कराइये, जो मुझे सत्-पथका निर्देश कर सके। संयोगसे महर्षि गौतम मिल गये। शुक्रने उनसे पूछा—'श्रीमन्! आप मुझे ऐसा गुरु बताइये, जिसके पास ऐसी विद्या हो जो और किसीके पास न हो। मैं उसी विद्याको पढ़ना चाहता हूँ।' महर्षि गौतमने शुक्रको भगवान् शङ्करके पास भेजा। गौतमी गङ्गा (गोदावरी)-में स्नान करके शुक्रने भगवान् शङ्करकी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तन्मय होकर प्रार्थना की। भगवान् शंकर उनके प्रेमसे आर्द्र हो गये और वर माँगनेको कहा। शुक्रने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! जो विद्या ब्रह्मा आदि देवताओंको भी न प्राप्त हो, उस विद्याको आप हमें दें।'*

शुक्रकी उत्कट तपस्यासे भगवान् आशुतोष बहुत ही

* बालोऽहं बालबुद्धिश्च बालचंद्रधर प्रभो। नाहं जानामि ते किंचित्स्तुतिकर्तुं नमोऽस्तु ते॥
परित्यक्तस्य गुरुणा न ममास्ति सुहृत्सखा। त्वं प्रभुः सर्वभावेन जगन्नाथ नमोऽस्तु ते॥

प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'वत्स! मैं तुम्हें ऐसी विद्या दे रहा हूँ, जिसका ज्ञान मेरे अतिरिक्त और किसीको नहीं है। मैंने इस निर्मल विद्याका निर्माण महान् तपस्याके बलपर किया है। इसका नाम 'मृतसंजीवनी' है—

मृतसंजीवनी नाम विद्या या मम निर्मला।
तपोबलेन महता मयैव परिनिर्मिता॥

(शि०रु०सं० युद्ध० ५०।४१)

इसे मैंने ब्रह्मा तथा विष्णुसे भी छिपा रखा है—

'हरेर्हिरण्यगर्भाच्च प्रायशोऽहं जुगोप यम्'

(शि०रु०सं० युद्ध० ५०।४०)

इस अवसरपर एक प्रश्नका उठना स्वाभाविक है कि सम्पूर्ण वेदके आविर्भावक जब ब्रह्मा हैं तो उनको इस मृतसंजीवनी-विद्याका ज्ञान कैसे नहीं रहा? बात यह है कि वेद अनन्त हैं—'**अनन्ता वै वेदाः**' (तैत्ति० ब्रा०)। जिस ब्रह्माको तपस्याके बलसे वेदकी जितनी शाखाएँ सुन पड़ती हैं, उतनी ही शाखाओंके वे जानकार हो पाते हैं। जैसे वर्तमान ब्रह्माका दूसरा परार्ध चल रहा है, इससे पचास वर्ष पहले जब इन्होंने कमलपर तपस्या की थी तो इनको उन अनन्त वेदोंमेंसे केवल ११२१ शाखाएँ सुनायी पड़ी थीं (महाभाष्य)। इसके पहले किसी ब्रह्माको ११८१ शाखाएँ सुनायी पड़ी थीं। भगवान् शङ्करने स्वयं कहा है कि मैंने मृतसंजीवनी-विद्याका निर्माण बहुत बड़ी कठिन तपस्याके बलपर किया है, इससे अनुमान होता है कि भगवान् शङ्करकी तपस्या ब्रह्माजीकी तपस्यासे बढ़कर थी। इसलिये वेदका मृतसंजीवनीवाला अंश भी उन्हें सुनायी पड़ा।

इस तरह ब्रह्मा भिषक्तर और भगवान् शङ्कर भिषक्तम हैं।

भगवान् शङ्कर दयालुओंमें दयालु और चिकित्सकोंमें सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक हैं—'**भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि**' (ऋक्० २।३३।४)। उन्होंने ऐसी विद्या निर्मित की, जिससे हजारों मरे हुए लोग एक क्षणमें जी जायँ (ब्रह्मपुराण अ० ९५)।

इस तरह भगवान् शिव चिकित्सकोंमें सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक हैं। इसलिये इनके भेषज अतिशय सुखकर होते हैं। यजमान वेद-मन्त्रोंके द्वारा उन भिषजोंकी याचना करते हैं—

'त्वादत्तेभी रुद्र शंतमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः।'

(ऋक्० २।३३।२)

'हे रुद्र! आप मुझे जो औषधि देंगे, उससे हम सैकड़ों वर्ष सुखमय जीवन व्यतीत करेंगे। यजमान अपने लिये ही नहीं, अपितु अपने पुत्रोंके लिये भी उन औषधियोंकी माँग करते हैं—'**उन्नो वीराँ अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि।**' (ऋक्० २।३३।४) वाजसनेयि-संहिताने भी '**प्रथमो दैव्यो भिषक्**' कहकर इन्हें देवचिकित्सकोंमें सबसे बड़ा चिकित्सक माना है।

बकरेका सिर जोड़ना

ब्रह्माके दाहिने चरणके अँगूठेसे दक्षकी उत्पत्ति और बायें चरणके अँगूठेसे उनकी पत्नीकी उत्पत्ति हुई थी। इस धर्मभार्यासे दक्षकी अनेक संततियाँ हुईं, उन्हीं संततियोंमें सती भी थीं। सतीका विवाह भगवान् शङ्करसे हुआ था। इस तरह भगवान् शङ्कर दक्षके जामाता हैं। जब प्रजापतियोंमें दक्ष सबसे ऊँचे पदपर चुन लिये गये, तब उनमें गर्वका अङ्कुर फूट आया और वे शङ्करको भगवान् न समझकर अपनेसे छोटे केवल जामाताके रूपमें देखने लगे। धीरे-धीरे उनके संहारकृत्यसे ये अप्रसन्न भी रहने लगे। फल यह हुआ कि जब उन्होंने एक महान् यज्ञ किया तो उसमें भगवान् शङ्करको निमन्त्रित नहीं किया। सती भगवान् शङ्करके ब्रह्मरूपको अच्छी तरह जानती थीं। उनसे अपने पिताके द्वारा अपने पतिका अपमान सहा नहीं गया और अपने शरीरको योगाग्निमें यह कहकर उन्होंने भस्म कर दिया कि जो पिता भगवान्का अपमान करता है, उसीका दिया हुआ मेरा यह शरीर है, अतः इस शरीरका रहना अच्छा नहीं है।

भगवान् शङ्कर भी सतीका अपमान सह नहीं सके और उन्होंने वीरभद्रको भेजकर दक्षयज्ञका विध्वंस करा दिया। वीरभद्रने बहुतसे देवताओंका अङ्ग-भङ्ग कर दिया और दक्षके सिरको काटकर दक्षिणाग्निमें डाल दिया। इस तरह वे यज्ञका विध्वंस कर लौट गये। यज्ञ अधूरा रह गया।

गुरुर्गुरुमतां देव महतां च महानसि। अहमल्पतरो बालो जगन्मय नमोऽस्तु ते॥
विद्यार्थं हि सुरेशान नाहं वेद्मि भवद्गतिम्। मां त्वं च कृपया पश्य लोकसाक्षिन्नमोऽस्तु ते॥ (ब्रह्मपुराण ९५।१८—२१)

विश्वके कल्याण-हेतु देवताओंने यज्ञकी पूर्तिको आवश्यक समझा और ब्रह्माको आगे करके भगवान् शङ्करके पास पहुँचे। उन लोगोंने भगवान् शङ्करसे प्रार्थना की—'भगवन्! यज्ञकी पूर्ति तो होनी ही चाहिये और वह आपके आशीर्वादसे ही सम्भव है।' भगवान् शङ्करने कहा कि दक्ष-जैसे नासमझोंके अपराधकी न तो मैं चर्चा करता हूँ और न ही स्मरण। मैंने तो केवल सावधान करनेके लिये ही दक्षको दण्ड दिया था। इसके बाद भगवान् शङ्करने देवताओंकी प्रार्थनापर कृपा करके बकरेके सिरको दक्षके शरीरमें जोड़ दिया और दक्ष फिर जीवित हो गये। यदि दक्षका पहला सिर जल न गया होता तो उसीके सिरको वे धड़में जोड़ देते, इसलिये बकरेके सिरका प्रयोग हुआ।

इस घटनासे सूचित होता है कि भगवान् शङ्करने केवल अपनी आध्यात्मिक शक्तिका ही नहीं, अपितु कुछ ओषधियोंका उपयोग भी अवश्य किया होगा। आध्यात्मिक शक्तिसे तो वे दक्षका पहला सिर भी ज्यों-का-त्यों बना सकते थे, जो शल्यक्रियासे सम्बन्ध रखता है।

परम्परा—भगवान् शङ्करने शुक्राचार्यको पढ़ाकर इस मृतसंजीवनी-विद्याकी परम्पराको चालू रखा। (ला०बि०मि०)

आयुर्वेदस्वरूप भगवान् श्रीविष्णु

प्रत्येक ईश्वरवादी ईश्वरको सत् मानता है अर्थात् ईश्वरका अस्तित्व उसके लिये सदा बना रहता है। प्राणियोंकी तरह ईश्वर मरा नहीं करता। इसी तरह ईश्वरको वह 'प्रेमानन्द'-रूप मानता है, अर्थात् प्राणियोंकी तरह ईश्वरमें सुख-दु:ख नहीं होता। इसी तरह ईश्वरको चित्स्वरूप भी माना जाता है। चित्का अर्थ होता है ज्ञान अर्थात् ईश्वर पूर्ण ज्ञानमय होता है। ईश्वर नित्य ज्ञानरूप होता है। इसमें कभी अज्ञता नहीं होती। इसी ज्ञानको वेद कहा जाता है। ज्ञानमें सदा शब्दका अनुवेध रहता है। अत: वेदके शब्द, अर्थ और सम्बन्ध—ये तीनों ही नित्य होते हैं। शंकराचार्यजीने लिखा है—'**नियतरचनावतो विद्यमानस्यैव वेद**' (बृहदा० उप० शा०भा० २।४।१०)। इस तरह वेद ईश्वरके स्वरूपभूत हो गया। अत: भगवान् विष्णुको हम वेद-स्वरूप कहते हैं। यहाँ विष्णुको आयुर्वेद-स्वरूप कहा गया है, वह इसलिये कि आयुर्वेद वेदका ही उपाङ्ग है। इसीसे आयुर्वेदकी महत्ता प्रकट हो जाती है, अर्थात् आयुर्वेद भगवान् श्रीविष्णुका रूप ही है।

ऊपर भगवान् विष्णुको हम सत्, चित् और आनन्द कह आये हैं, अर्थात् सत्-चित्-आनन्द ही भगवान् होता है। आनन्दका ही उल्लसित रूप होता है प्रेम। इसलिये वेदने भगवान् विष्णुको प्रेमानन्द-रूप कहा है। प्रेमका स्वभाव होता है कि वह अपने प्रेमास्पदके साथ कोई-न-कोई खेल खेलता ही रहता है। अत: भगवान् यह खेल हम प्रेमास्पदोंके साथ खेलते ही रहते हैं। जाग्रत्-अवस्था और स्वप्नावस्थामें हम भगवान्के साथ प्रेमका खेल खेलते हुए थक जाते हैं, तब वह महान् चिकित्सक हमें संज्ञा-हरणका इंजेक्शन दे देता है और सुषुप्ति-अवस्थामें पहुँचा देता है। इस अवस्थामें न तो हमें प्राकृतिक सुखकी प्रतीति होती है और न प्राकृतिक दु:खका थपेड़ा ही सहना पड़ता है। भगवान् अपने आनन्दरूपमें हमको लीन कर देते हैं। इनके आनन्दांशको पाकर हम चिर प्रफुल्लित हो उठते हैं और अच्छी तरह संज्ञाके लौट आनेपर अनुभव करते हैं कि मैं सुखपूर्वक सोया—'**सुखमहमस्वाप्सम्।**'

लीलाओंमें प्रेमलीला सबसे उत्तम होती है। सच पूछिये तो हमारे साथ प्रेमकी लीला करनेके लिये ही भगवान् लीलास्थली बनाते हैं। हमें नाम और रूप देकर हमारे साथ प्रेमकी ही लीला करते हैं। किंतु हममेंसे कुछ लोग भटककर भगवान्के साथ प्रेम न करके उनकी बहिरङ्गासक्तिके फेरमें पड़कर भगवान्को ठुकराकर किसी औरसे प्रेम करने लगते हैं। जैसे शिशुपाल और कंस भी हमारी तरह भगवान्के अंश थे। परंतु वे भगवान्से प्रेम न कर प्रकृतिसे प्रेम और भगवान्से ईर्ष्या-द्वेष करने लगे। यह भगवान्के हम प्रेमास्पदोंकी गलती है; किंतु भगवान् इतने दयालु और प्रेमातुर हैं कि वे कंस और शिशुपालके भी

स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीरके साथ भी अपनी ओरसे प्रेमलीला करते ही रहते हैं और फिर ऐसे प्रतिकूल लोगोंको भी संज्ञा-हरणकी सुई लगाकर उन्हें दु:ख आदिके थपेड़ोंसे हुई थकानको मिटानेके लिये सुषुप्ति-अवस्थामें—अपनेमें लीन कर लेते हैं।

यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक दिन चिकित्सककी तरह प्रत्येक प्राणीको संज्ञा-हरणकी सुई उसके अङ्गमें चुभोते नहीं हैं; क्योंकि वे चिकित्सकोंके भी चिकित्सक हैं—आयुर्वेदके स्वरूप हैं, इसलिये संज्ञा-हरणकी स्वयंचालित (Automatic) व्यवस्था करते हैं।

हम जीवोंमें सब लोग आण्डाल, मीरा और चैतन्य महाप्रभुकी तरह न तो भगवान्से मधुर लीला कर पाते हैं और न दशरथ-कौसल्या एवं यशोदाकी तरह वात्सल्य-प्रेम ही। अपितु मायाके चक्करमें पड़कर उनके विरुद्ध ही लीला करने लग जाते हैं। इस तरह जब हम प्रकृतिके थपेड़ोंसे अच्छी तरह प्रताड़ित हो जाते हैं और मारे थकानके निढाल हो जाते हैं, तब वे आयुर्वेद-स्वरूप भगवान् संज्ञा-हरणकी वह प्रभावक सुई लगा देते हैं, जिससे हम अरबों वर्षोंतक उनमें लीन होकर आनन्दभोगी बने रहते हैं। इसी संज्ञा-हरणकी सुई लगनेसे उत्पन्न होनेवाली अवस्थाको महाप्रलय कहा जाता है। अर्थात् इस अवस्थामें हम बहुत दिनोंतक भगवान्में अच्छी तरहसे लीन रहते हैं और लीन रहकर उनके आनन्दांशसे भरपूर हो जाते हैं। किंतु यह महा संज्ञा-हरणकी क्रिया उनकी स्वयंचालित (Automatic) ही होती है। यही तो भगवान्के चिकित्सक-रूपकी विशेषता है।

जब भगवान् देखते हैं कि हमारे प्रेमास्पदोंमें प्रकृतिके थपेड़ोंका असर समाप्त हो गया है और मेरा आनन्दांश इनमें भर गया है तो उनका मन फिर प्रेमका खेल खेलनेके लिये मचल उठता है; क्योंकि प्रेमका स्वभाव ही होता है कि वह अपने प्रेमास्पदके साथ कोई-न-कोई खेल खेला करे। अकेले उनका मन लग नहीं रहा था, इसलिये '**नारमतैकः**' (मैत्रा०उप० २।६)। प्रेमका स्वभाव ही होता है कि वह प्रेमास्पदोंको अपनी आँखोंसे देखे, उसका स्पर्श पाये। इसलिये भगवान् अपने प्रेमास्पदोंको चाहने लगे—'**स आत्मानमभिध्यायत्**' (मैत्रा०उप० २।६)।

इस खेलके लिये प्रेमास्पदोंको लिङ्गशरीर और कारणशरीर भी देना था और लीलाके लिये लीलास्थली भी बनानी थी।

भगवान्ने पाद-विभूतिमें लीलाकी आयोजिका प्रकृतिपर एक दृष्टि डाली। दृष्टि पड़ते ही प्रकृतिमें गति आ गयी और वह महत्-तत्त्वसे प्रारम्भकर पञ्चमहाभूततक तेईस तत्त्वोंके रूपमें परिणत होती चली गयी। इस तरह चौबीस तत्त्व बन तो गये, किंतु ये चौबीस तत्त्व लीलास्थली (ब्रह्माण्ड)-को न बना सके; क्योंकि ये सब-के-सब जड़ हैं और जड़ गणित नहीं कर सकता। तब महान् गणितज्ञने पञ्चीकरणकी पद्धतिसे सब तत्त्वोंको परस्पर मिला दिया और एक अण्डके रूपमें गोल लीलास्थली बन गयी। एक हजार दिव्य वर्षतक यह लीलास्थली (ब्रह्माण्ड) गतिहीन ही पड़ी रही, तब भगवान्ने इसमें प्रवेशकर इसे सजीव कर दिया। फिर स्वयं इसे फोड़कर विराट् पुरुषके रूपमें ब्रह्माण्डके बाहर आये। पुरुषसूक्तमें इन्हीं पुरुषका वर्णन है। इनके अनन्त चरण, मुख, नेत्र तथा नाभि आदि हैं (श्रीमद्भा० २।६।४१)। इस स्फोटके कारण वे इन्हीं अनन्त नाभियोंसे अनन्त क्षुद्र ब्रह्माण्ड (लीलास्थली) बने। यही क्षुद्र ब्रह्माण्ड उनकी नाभियोंसे निकले कमल हैं (श्रीमद्भा० २।८)।

उस कमलरूपी क्षुद्र ब्रह्माण्डकी कर्णिकापर पितामह ब्रह्माजी अपनेको अकेले बैठे हुए पाते हैं। इन ब्रह्माको भगवान् इसलिये उत्पन्न करते हैं कि ये देवता, असुर, उद्भिज्ज, अण्डज और पिण्डज प्राणियोंका निर्माण करके ब्रह्माण्डको सजा सकें। उत्पन्न होनेके साथ ही पितामह ब्रह्मामें सृष्टि करनेकी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। तब भगवान् उनसे तपस्या कराते हैं फिर दर्शन देकर समझाते हैं कि इन सबका निर्माण वेदके शब्दोंसे होगा और उस वेदको तुम तपस्या करके ही प्राप्त कर सकते हो। इसलिये फिर तपस्या करो। पितामह ब्रह्माने घोर तप प्रारम्भ कर दिया। जब तपस्या पूर्णतापर पहुँचने लगी, तब उनको पहले पुराण याद आ गये। पुराण नित्य-वेदके नित्य-अंश हैं। अत: आयुर्वेद भी याद आ गया। इस पुराणको पितामह ब्रह्माने एक लाख श्लोकोंमें ग्रथित किया, उसी तरह

आयुर्वेदको भी एक लाख श्लोकोंमें ग्रथित कर लिया।

आयुर्वेद और पुराण—ये दोनों शाश्वत वेदके अर्थ हैं, अत: दोनों ही शाश्वत हैं। इसी अभिप्रायसे चरकने कहा है—'**ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः**' इस तरह ब्रह्माद्वारा स्मरण (उच्चारण) करनेके बाद उनके शब्दोंमें ग्रथित ग्रन्थ जो पुराण और आयुर्वेद हैं—सब-के-सब ब्रह्माद्वारा श्रुत हैं, स्मृत नहीं। ब्रह्मासे ही हमें दोनों एक-एक लाख श्लोकवाले ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं और ब्रह्माके द्वारा ही हमें वेद प्राप्त हुआ है।

फिर भी दोनोंमें भेद इसलिये है कि स्मृत ग्रन्थके शब्द नित्य नहीं हैं; क्योंकि ब्रह्माद्वारा निर्मित नहीं हैं, अत: अपौरुषेय हैं और वेदमें ब्रह्माका किसी प्रकारका कृतित्व नहीं है, न वेदका उच्चारण उनका कृत है, न अर्थ कृत है, न शब्द कृत है। इस प्रकार वेद ब्रह्मरूप ठहरता है और वेदाङ्ग आयुर्वेद भी भगवान् श्रीविष्णुका स्वरूप ही है।

दौर्भाग्यसे पाश्चात्त्य विद्वानोंके मस्तिष्कमें वेदकी इस अपौरुषेयताका तथ्य उतर नहीं पाया। एक साधारण दृष्टान्तसे हम इस तथ्यको बुद्धिमें उतार सकते हैं। जैसे किसी श्रुतधर व्यक्तिने रेडियो सुना। उससे किसी गानेका प्रसारण हो रहा था। श्रुतधर व्यक्तिने उस गानेके शब्द और अर्थके साथ-साथ उसके उच्चारणको भी याद कर लिया और गा-गाकर सुनाने लगा। यहाँ विचारणीय यह है कि श्रुतधर जिस ध्वनिको सुना रहा है, वह उसके द्वारा निर्मित है क्या? इसी प्रकार उस गानेके शब्दोंको जो सुना रहा है, वे शब्द उसके द्वारा निर्मित हैं क्या तथा उस गानेके जो अर्थ हैं, वे भी उसके द्वारा निर्मित हैं क्या? इस प्रश्नके उत्तरमें सभी लोग एकमतसे कहेंगे कि उस सुने हुए गानेमें उस श्रुतधर व्यक्तिका कोई कृतित्व नहीं है; क्योंकि गानेके शब्द-अर्थ आदि सभी वस्तुओंको रेडियोसे सुनकर वह सुना रहा है, इसमें उसका कोई कृतित्व नहीं है। इसी तरह इस श्रुतधरकी भाँति ब्रह्माने अपने मुखसे उच्चरित शब्दोंको सुना। अर्थ और उच्चारण भी सुनकर ही उन्होंने विश्वको वेद प्रदान किया। इसलिये श्रुतधर व्यक्तिकी तरह ब्रह्माका भी वेदके शब्द-अर्थ तथा उच्चारणमें कोई कृतित्व नहीं है। ईश्वर नित्य है और उसका स्वरूपभूत वेद भी नित्य है, वह सदा उच्चरित हो ही रहा है। भले ही हमारे कान उसे न सुन सकते हों। ब्रह्माने बहुत तपस्या करनेके बाद उसे सुना। बहुतसे ऋषियोंने तपस्या करके ब्रह्माकी तरह वेदको सुना है। इस तरह वेद शाश्वत है और ईश्वरका स्वरूप है। वेद आयुर्वेद है, इसलिये आयुर्वेद भी शाश्वत है। इसीलिये आचार्य चरकने ईश्वरकी तरह अपौरुषेय होनेके कारण आयुर्वेदको शाश्वत कहा है—

सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च।

(चरक० सूत्र० ३०।२७)

पाश्चात्त्य विपश्चितोंने वेदोंमें श्रम किया है, किंतु वे वेदके अपौरुषेय-स्वरूपको समझ नहीं सके। इसीलिये जब आयुर्वेदको शाश्वत कहा जाता है तो शाश्वत शब्द और नित्य शब्दमें अन्तर समझने लगते हैं और समझते हैं कि मनुष्यमें जब बुद्धिका विकास हुआ तब आयुर्वेद बना। सच पूछा जाय तो शास्त्रने शाश्वत और नित्यको पर्यायवाची माना है।[1]

भगवान् विष्णु इस प्रकार वेद या आयुर्वेदस्वरूप ठहरते हैं।

भगवान् विष्णुद्वारा आयुर्वेदका प्रयोग

प्रारम्भिक कुछ मन्वन्तरोंके बाद चाक्षुष मन्वन्तर आनेपर भगवान् विष्णुको ऐसा औषधरत्न प्रकट करना पड़ा जो न ब्रह्माके पास था, न उनके शिष्य दक्ष प्रजापतिके पास, न उनके शिष्य इन्द्रके पास और न चमत्कारी देववैद्य अश्विनीकुमारोंके पास ही था।

घटना इस प्रकारकी है—छठे मनुका नाम था चाक्षुष। उन दिनों दुर्वासाके शापसे देवराज इन्द्रके साथ-साथ सारे देवता भी श्रीहीन हो गये थे। दैत्योंने देवताओंको भगाकर दर-दरका भिखारी बना दिया था। निराश होनेपर सब देवता मिलकर अपने पितामह ब्रह्माके पास पहुँचे। ब्रह्माजीने जब देखा कि इन्द्र, वायु आदि सभी देवता अत्यन्त श्रीहीन और शक्तिहीन हो गये हैं तथा ये विकट परिस्थितिमें पड़ गये हैं, तब वे भी चिन्तित हो गये। उन्होंने भगवान्का स्मरण

१. (क) शश्वद्भवः शाश्वतः=नित्यो धर्मः (गीता शांकरभाष्य ११।१८)
(ख) शाश्वतं=नित्यं (गीता शां०भा०)

किया। इस स्मरणसे उन्हें बल मिला। शङ्कर आदि सभी देवताओंको साथ लेकर वे भगवान् विष्णुके वैकुण्ठधाममें गये। किंतु उन्हें वहाँ कुछ दिखायी न पड़ा। दर्शनके लिये ब्रह्माजीने लम्बी स्तुति की। इससे भगवान् उनके बीच प्रकट हो गये। किंतु भगवान्की इस छविको केवल भगवान् शङ्कर और ब्रह्माजी ही देख सके। ब्रह्मा और देवताओंने अपनी दु:खद परिस्थिति उनके सामने रख दी। भगवान्ने देवताओंको राय दी कि स्थिर लाभके लिये तुम लोग दैत्योंसे संधि कर लो ताकि समुद्र मथा जा सके। उस मन्थनसे हमें अमृतरूप औषध निकालना है। यह कार्य अकेले तुम लोगोंसे नहीं हो सकेगा, उस दिव्य रसके उपयोगसे तुम भी बल-वीर्यसे सम्पन्न हो जाओगे और मरकर भी फिर जी उठोगे। तब दैत्य स्वयं तुमपर आक्रमण करनेसे कतराने लगेंगे। इसलिये तुम लोग दैत्योंके साथ सम्पूर्ण औषधियाँ लाकर अमृतके लिये क्षीरसागरमें डालो। इस मन्थनसे औषधियोंका सारभूत अमृत आदि लोकोपकारक वस्तुएँ निकल सकेंगी। इस मन्थनमें मन्दराचलको मथानी बनाया जायगा और वासुकि नागको नेति। इन सब उपकरणोंको शीघ्र ही जुटाओ (विष्णुपु० १।९।७६—८०)। देवताओं और दानवोंने नाना प्रकारकी औषधियाँ लाकर क्षीरसागरमें डालीं और मन्थन प्रारम्भ हुआ।

उस अमृतरूप औषधतत्त्वको प्राप्त करना इतना कठिन था कि केवल इतने ही साधनोंसे वह उपलब्ध नहीं हो सका। इसलिये भगवान्ने स्वयं कूर्मरूप धारण करके मन्दराचलके आधारभूत और अदृश्यरूपसे एक अन्य विशाल रूप धारणकर उस पर्वतको ऊपरसे दबा रखा था। भगवान्ने देखा कि केवल देवताओं और असुरोंकी शक्तिसे अमृतका निकलना कठिन है तो स्वयं दैत्यका रूप बनाकर दैत्योंके दलमें और देवताका रूप बनाकर देवताओंके दलमें जाकर मन्थन-क्रियाको सम्पन्न कराया (विष्णुपु० १।९।८८—९१)।

औषधियोंके मन्थनसे जो रस तैयार होगा, उस अनुपातके संतुलित मिश्रणके लिये अपने अंशांशसे धन्वन्तरिके रूपमें अवतीर्ण होकर समुद्रमें अदृष्ट-रूपसे वे प्रविष्ट हो गये। वहाँ उन्होंने औषधियोंमें रसका उचित अनुपातमें मिश्रणकर उसे अमृतका रूप प्रदान किया। उस सम्मिश्रणमें वे इतने दत्तचित्त हुए कि जब अमृतमय कलश लेकर बाहर प्रकट हुए तो उनके मुखसे भगवान् विष्णुके नामोंका जप और आरोग्यके साधक औषधोंके नामका भी उच्चारण हो रहा था। इतनी तन्मयतासे धन्वन्तरिने उस दिव्य औषधको निकाला।

किंतु दैत्य तो दैत्य ही होते हैं। उन्होंने अमृतके उस कलशको हथिया लिया। देवता विषादसे भर गये और फिर उन्होंने भगवान्की शरण ली। फिर भगवान्ने अपनी मायासे दैत्योंको मोहितकर देवताओंको अमृत पिला दिया और स्वयं वैकुण्ठधाम चले गये।

इस प्रकार देवताओंके सबल हो जानेपर सूर्य-ग्रह-नक्षत्रादि आकाशके गोलकोंने अपनी गतिमें नियमितता पा ली। संसार फिर सुखी-सम्पन्न होकर उल्लाससे भर गया।

औषधका प्रयोग फिर जनताके महान् पालक अश्विनीकुमारोंके हाथमें आ गया। बहुत काल बाद मनुष्यलोकमें जब रोगोंने अपने पाँव फैलाये और पृथ्वीके प्राणी फिर दीन-दु:खी होने लगे, तब भगवान् नारायण श्रीविष्णुने अंशांशरूपमें जो अपना अवतार धन्वन्तरिरूपमें लिया था, उस धन्वन्तरिरूपसे राजा धन्वके यहाँ पुत्ररूपमें आविर्भूत हुए; क्योंकि राजा धन्वने इन्हीं अब्ज धन्वन्तरिको पुत्ररूपसे पानेके लिये तप किया था। गर्भावस्थामें ही इन्हें अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो गयी थीं। विष्णुके अंशांशरूपमें अवतीर्ण भगवान् धन्वन्तरिने आयुर्वेदको आठ अङ्गोंमें बाँट दिया। वे आठ अङ्ग इस प्रकार हैं—(१) कायचिकित्सा, (२) बालचिकित्सा, (३) ग्रहचिकित्सा, (४) ऊर्ध्वाङ्गचिकित्सा, (५) शल्यचिकित्सा, (६) दंष्ट्रचिकित्सा, (७) जराचिकित्सा तथा (८) वृषचिकित्सा।

परम्पराकी स्थापना—जिस तरह पितामह ब्रह्माने दक्ष प्रजापतिको, भगवान् शङ्करने शुक्राचार्यको आयुर्वेद पढ़ाकर परम्पराकी स्थापना की थी, उसी प्रकार भगवान् श्रीविष्णुने गरुडजीको आयुर्वेद पढ़ाकर परम्परा चलायी।

इस तरह आयुर्वेदस्वरूप भगवान् विष्णुने आवश्यकता पड़नेपर आयुर्वेदसे प्राणियोंको सुखी-सम्पन्न बनाया।

(ला०बि०मि०)

आयुर्वेदके प्रथम अध्येता दक्ष प्रजापति

ब्रह्मा, विष्णु और महेश—ये त्रिदेव मूर्तिमान् आयुर्वेद ही हैं, किंतु इन्होंने आयुर्वेदको जो प्रयोगात्मक रूप प्रदान नहीं किया, उसका कारण यह है कि सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और इसे विश्राम प्रदान करना—ये तीनों ही कार्य बहुत ही उलझनसे भरे हैं। यही कारण है कि एक ही तत्त्व सृष्टिकार्य सँभालनेके लिये ब्रह्मा बन गया, स्थितिके लिये विष्णु बन गया और क्रियाको विश्राम देनेके लिये उसीने शङ्करका रूप ले लिया। जब इन तीनों कार्योंके लिये एक ही तत्त्वको तीन रूप पृथक्-पृथक् धारण करने पड़े, तब आयुर्वेदके प्रयोगात्मक कार्यको वे कैसे कर पाते? क्योंकि इसका उद्देश्य चौबीसों घंटे प्राणियोंकी सेवा करना है। इसलिये आयुर्वेदके मूर्तिरूप तीनों देवोंने जैसे यह भार अश्विनीकुमारोंपर छोड़ा, वैसे ही प्रजापति दक्षने भी यही मार्ग अपनाया।

दक्षप्रजापतिके सामने भी कार्यका अम्बार लगा हुआ था। वे सभी प्रजापतियोंके प्रधान चुन लिये गये, इसलिये उनका कार्य और बढ़ गया था। फिर वे अपने जीवनमें आयुर्वेदको प्रयोगरूपमें कैसे लाते? फिर भी त्रिदेवोंकी तरह दक्ष प्रजापतिके जीवनमें भी कुछ ऐसा अवसर आ गया कि उन्हें उसे प्रयोगात्मक रूप देना ही पड़ा।

औषधका प्रयोग दो रूपोंमें होता है—रोगियोंके रोग-निवारणके लिये और विवशोंकी विवशता दूर करनेके लिये। ऐसी स्थितिमें उनमें रोगको उत्पन्न कर देना आवश्यक हो जाता है।

प्रजापति दक्षने सृष्टि बढ़ानेके लिये बहुत संतानें उत्पन्न कीं। उनमेंसे सत्ताईस कन्याओंका विवाह चन्द्रमाके साथ कर दिया। वे सभी अत्यन्त सुन्दर थीं। उनके रूपकी समता करनेवाली पृथ्वीपर कोई स्त्री न थी। उन सत्ताइसोंमें रोहिणी सौन्दर्यमें सबसे बढ़ी हुई थी। उसके सौन्दर्यने चन्द्रमाको आकृष्ट कर लिया था। वे निरन्तर उसीके साथ रहने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि अन्य छब्बीस दक्ष-कन्याओंकी उपेक्षा हो गयी। उन्हें क्रोध आना स्वाभाविक था; क्योंकि विषमता अच्छी नहीं होती, यह शास्त्र-विरुद्ध भी है। अप्रसन्न होकर वे छब्बीसों बहनें अपने पिता दक्ष प्रजापतिके पास पहुँचीं और बोलीं कि चन्द्रमा कभी हम लोगोंके पास नहीं आते। अतः हम सभी चाहती हैं कि नियम लेकर आपके पास रहकर तपस्या करें।

दक्षको चन्द्रमाका यह अधर्मपूर्ण व्यवहार अच्छा न लगा, उन्होंने चन्द्रमाको समझाया—तुम सभी पत्नियोंके प्रति सम भाव रखो, नहीं तो तुम्हें पाप लगेगा। यह तुम स्वयं जानते ही हो। इसके बाद दक्षने अपनी कन्याओंको चन्द्रमाके पास भेज दिया। पिताका आदेश पालन कर छब्बीसों बहनें चन्द्रमाके पास पहुँचीं, किंतु चन्द्रमा रोहिणीमें इतने आसक्त थे कि उन्होंने फिर सबकी उपेक्षा कर दी। इस तरह तीन बार सभी बहनोंको पिताके पास लौटकर पुराने अभियोगको सुनाना पड़ा।

आसक्ति इतनी क्रूर होती है कि यह अपने चंगुलमें फँसे व्यक्तिकी आँखें ही फोड़ देती है और कान भी बुत कर देती है, जिससे वह आसक्त व्यक्ति अपनेसे होती हुई भयानक-से-भयानक हत्याओंको न तो देख पाता है और न उनसे उपजी कराहोंको सुन ही पाता है। चन्द्रमा इसी घोर आसक्तिमें फँस गये थे। अपनी छब्बीस पत्नियोंकी हत्याओंको न तो वे देख पाते थे और न उनकी तड़पती हुई कराहोंको ही सुन पाते थे।

दक्ष भी सोमको प्यार-भरे शब्दोंमें समझाते-समझाते थक गये थे। उन्होंने राजयक्ष्मा नामक रोगकी सृष्टि कर दी—

तच्छ्रुत्वा भगवान् क्रुद्धो यक्ष्माणं पृथ्वीपते॥
ससर्ग शेषात् सोमाय स चोडुपतिमाविशत्।

(महाभारत शल्य० ३५। ६१-६२)

यह रोग चन्द्रमाको हो गया। इसकी भयानकताके कारण चन्द्रमा दिनोंदिन क्षीण होते चले गये। इस रोगसे छूटनेके लिये उन्होंने बहुत यज्ञ किये, किंतु मुक्त न हो सके। क्षीण होते-होते उनका प्रकाश लुप्त-सा हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक तो अन्न आदि ओषधियोंकी उत्पत्ति रुक गयी दूसरे उनके स्वाद, रस और प्रभाव भी नष्ट हो गये। संसार विनाशके कगारपर आ खड़ा हुआ। देवताओंसे चन्द्रमाकी यह दुर्दशा देखी नहीं

गयी। जब वे जान गये कि दक्षने इनके लिये एक यक्ष्मा नामक रोगकी सृष्टि कर रखी है, तब वे दक्ष प्रजापतिके पास जाकर बोले कि 'चन्द्रमापर प्रसन्न होइये, उनके रोगके कारण संसार ही विनष्ट होनेको तैयार है।' तब दक्ष प्रजापतिने इस रोगको हटानेके लिये चन्द्रमाको सरस्वती नदीमें गोता लगानेको कहा। सरस्वती एक तो स्वयं देवी हैं, दूसरे उनके जलमें इस रोगको हटानेकी शक्ति भी है। दौर्भाग्यसे आज सरस्वती नदीका दर्शन नहीं होता।

आयुर्वेदमें इतनी क्षमता है कि रोगोंको समूल नाश कर दे और उनकी सृष्टि भी कर दे। दक्षकी तरह चिकित्सकोंके चिकित्सक भगवान् शङ्करने बाणासुरके युद्धमें ज्वरकी ही सृष्टि कर डाली थी। इसी प्रकार आजसे दो हजार वर्ष पहले मगध-सम्राट्को सिरदर्द रहता था, ठीक निदान न हो सकनेसे लाख चिकित्सा करनेपर भी वह दर्द गया नहीं। उस समय तक्षशिलाके स्नातक जीवककी तूती बोल रही थी। जीवकके पास दो ऐसी लकड़ियाँ थीं, जो 'एक्स-रे'का काम करती थीं। उन लकड़ियोंसे जीवकको यह स्पष्ट ज्ञान हो गया कि कोई कनखजूरा कभी उनके नाकमें घुस गया होगा, जो वहाँ चिपक गया और वहाँका रस पी रहा है। इस समय अङ्ग-प्रत्यङ्ग बढ़नेसे उसने भीषण रूप ले लिया। निदान हो जानेपर रोगको हटाना कठिन काम नहीं होता, लेकिन जीवक जान रहा था कि जो भी दवा इनके नाकमें दी जायगी, उससे कनखजूरा तो मर जायगा, किंतु राजाको इतनी असह्य पीडा होगी कि वह वैद्यपर ही क्रुद्ध होकर उसे दण्ड दे सकता है। इसलिये वैद्यने एक चाल चली। राजासे कहा—'आप अपने यहाँके सबसे तेज घोड़ेको दे दीजिये, उससे हमें किसी आवश्यक कार्यके लिये एक घंटेके लिये बाहर जाना है, तबतक आप दवाके प्रयोगसे स्वस्थ हो जायँगे। एक दवा मैं दिये जा रहा हूँ, इसे थोड़ी देर बाद नाकमें डालियेगा। एक घंटे बाद मैं वापस आऊँगा। राजाने घोड़ेकी व्यवस्था कर दी। जीवक घोड़ेपर बैठकर बहुत तेजीसे भागा और अपने अभिलषित स्थानपर पहुँच घोड़ेको बाँधकर बैठ गया। उसने एक सेबके कई टुकड़े किये, एक टुकड़ेमें रोगोत्पादक दवा मिलायी और दूसरे टुकड़ेमें रोगशामक तथा स्वयं कई टुकड़े काटकर धीरे-धीरे खाने लगा। वह देखता जाता था कि हमारे पीछे हमको पकड़नेके लिये कोई आ रहा है कि नहीं। थोड़ी देर बाद सेनापति आ पहुँचा। उसका रुख बहुत कठोर था—डाँटता हुआ बोला—'सम्राट्को तुमने कौन-सा जहर दिया? वे इतने छटपटा रहे हैं कि जिसका ठिकाना नहीं है। चलो, तुम्हें फाँसी लगायी जायगी।'

जीवकने कहा—'सेनापतिजी! जल्दी क्या है? आप भी थोड़ा फल खा लीजिये, थक गये होंगे। खाकर चले चलेंगे।' सेनापतिको उसकी राय पसंद आ गयी। उसने कहा—अच्छा दे दो। जीवकने रोगोत्पादक दवा-मिश्रित सेबका टुकड़ा सेनापतिको खानेके लिये दे दिया। उस टुकड़ेको मुँहमें रखते ही बेचारे सेनापतिके हाथ-पाँव स्तब्ध हो गये, बोली बंद हो गयी, वह निढाल होकर पड़ गया। बेचारेकी आँखोंसे आँसूका प्रवाह बह चला। जीवकने शान्ति और प्रेमसे समझाया 'सेनापतिजी! हमने आपको कोई नुकसान नहीं पहुँचाया है, आप बहुत तैशमें आये थे, हमको मारते-पीटते ले चलते और पीछे इससे आपको भी बहुत पश्चात्ताप होता। आप पाँच मिनट विश्राम कीजिये। हम जो कह रहे हैं, उसका प्रमाण अभी मिल जायगा। आपके आनेके बाद सम्राट् स्वस्थ हो गये हैं और हमारे स्वागतके लिये उन्होंने बड़े-बड़े राजपुरुषोंको भेजा है, जो शान्तिपाठ करते हुए मुझे ले चलेंगे, यह देखकर आपको अपनी अशिष्टताके लिये तकलीफ होती। आपको यह तकलीफ न हो, इसीलिये हमने थोड़ी देरके लिये ऐसे रोगकी सृष्टि कर दी है, ताकि आप कुछ अशिष्टता न कर सकें।'

इतनेमें सचमुच जीवकके स्वागतके लिये एक बहुत बड़ा समूह आ पहुँचा। एक सम्राट्की तरह उसका स्वागत किया गया। तब जीवकने सेबका वह टुकड़ा सेनापतिके मुँहमें लगाया, जिसमें रोगशमन करनेकी शक्ति थी। रोगशामक दवा-मिश्रित टुकड़ेको मुँहमें लगाते ही सेनापति भला-चंगा हो गया।

जीवकके इन दोनों प्रयोगोंसे सेनापतिको शारीरिक और मानसिक विश्राम ही मिला था। कोई कष्ट नहीं हुआ था। इस प्रकार वैद्योंमें आवश्यकतानुसार रोगकी सृष्टि और रोगके शमन करनेकी शक्ति होती है।

परम्परा—दक्ष प्रजापतिने समग्र आयुर्वेद अश्विनीकुमारोंको दिया और इस परम्पराको बनाये रखा। (ला०बि०मि०)

देववैद्य अश्विनीकुमार

त्वष्टाने अपनी कन्या संज्ञाका विवाह भगवान् भास्करसे किया था। संज्ञाका अर्थ होता है सम्यक् ज्ञानवाली। संज्ञामें अपने नामके अनुरूप ही सम्यक् ज्ञानका गुण विद्यमान था। वह अपने पतिकी सेवामें निरन्तर लगी रहती थी; क्योंकि पत्नीके लिये यही सम्यक् ज्ञान है। इस सेवामें भगवान् भास्करका प्रचण्ड तेज उसे विघ्न पहुँचाता था, क्योंकि भगवान्का वह प्रचण्ड तेज उसे सहन नहीं हो पाता था। वह उस तेजको जी कड़ा करके सहा करती और पतिको यह नहीं समझने देती थी कि उनसे उसको कोई कष्ट हो रहा है। वह सोचती थी कि धीरे-धीरे सहनशक्ति आ जायगी। किंतु मनु, यम और यमुना—इन संतानोंके हो जानेके बाद भी पतिका तेज उसके लिये असह्य रहा। उसने तपस्याकी शरण ली। किंतु पतिकी सेवा छोड़कर पत्नीके लिये तपस्या करना भी धर्म नहीं माना जाता। इसलिये उसने एक उपाय निकाला। उसने अपनी छायाको पतिकी सेवाके लिये नियुक्त कर दिया और स्वयं अपने सतीत्वकी सुरक्षाके लिये वह अश्वाका रूप धारण करके उत्तरकुरुमें तपस्या करने लगी।

जब भगवान् सूर्यको इस रहस्यका पता चला, तब वे अपनी पत्नीके प्रति दयार्द्र हो गये और अश्वरूप धारणकर उससे मिले। इस प्रकार संज्ञासे जुड़वाँ संतानें उत्पन्न हुईं, इसमें एकका नाम दस्र और दूसरेका नासत्य है। माताके नामपर इनका संयुक्त नाम अश्विनीकुमार है। (महा०अनु० १५०।१७-१८)

इनका सौन्दर्य बहुत आकर्षक है (ऋ० ६।६२।५)। इनके देहसे सुनहरी ज्योति छिटकती रहती है (ऋ० ८।८।२)। ये दोनों देवता जितने सुन्दर हैं, उतने ही सुन्दर उनके पावन कर्म हैं। स्मरण करते ही वे उपासकोंके पास पहुँच जाते हैं और उनके संकटको तुरंत दूर कर देते हैं (ऋ० १।११२।३)। शयु नामक एक ऋषि थे। इनकी गाय वन्ध्या थी, अश्विनीकुमारोंने गायके थनोंको इतना सशक्त कर दिया कि उनसे दूधकी धारा बहने लगी (ऋ० १।११२।३)। दुर्दान्त असुरोंने रेभ नामक ऋषिके हाथ-पैर बाँधकर उन्हें जलमें डुबा दिया था। अश्विनीकुमारोंने उनको बाल-बाल बचा लिया। असुरोंने यही दुर्गति वन्दन ऋषिकी भी की। अश्विनीकुमारोंने उन्हें भी शीघ्र ही बचा लिया (ऋ० १।११२।५)। राजर्षि अन्तकको बाँधकर असुरोंने अथाह जलमें फेंक दिया था। यही अत्याचार राजर्षि भुज्युके साथ भी किये जानेपर अश्विनीकुमारोंने उन्हें भी बचा लिया (तैत्ति० ब्राह्मण ३।१)।

चमत्कारी चिकित्सक

देवताओंने इन दयालु अश्विनीकुमारोंके ऊपर चिकित्साका पूरा भार सौंप रखा था। '**अथ भूतदयां प्रति**' यह आयुर्वेदका सिद्धान्त इनके जीवनमें स्वभाव बनकर उतरा हुआ था। ये हर प्राणीको ढूँढ़-ढूँढ़कर उसकी मानसिक और शारीरिक बाधा दूर किया करते थे।

(१) शल्य-कर्म

(क) कटे हुए सिरको जोड़ना—एक बार देवराज इन्द्रने दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिपर रोक लगा दी थी कि वे मधुविद्याका उपदेश किसीको न करें। नहीं तो जिस समय वे पढ़ाने लगेंगे, उसी समय उनका सिर काट दिया जायगा। इस तरहकी रोक लग जानेसे इस आत्मविद्याका विनाश ही हो जाता। अश्विनीकुमार अन्य प्राणियोंकी तरह इस अध्यात्म-विद्यापर भी पसीज गये। ये दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिसे उस विद्याको पढ़ने गये। दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि महान् औपनिषद पुरुष थे। वे भी चाहते थे कि ब्रह्मविद्याका प्रसार रुके नहीं। किंतु उनके सामने विवशता थी, उन्होंने अश्विनीकुमारोंसे अपनी विवशता बताते हुए देवराज इन्द्रकी कही हुई चेतावनी सुनायी कि 'तुम इस ब्रह्मविद्याको किसीको मत पढ़ाना, यदि पढ़ाओगे तो तुम्हारा मस्तक उसी समय काट डालूँगा'—

स होवाचेन्द्रेण वा उक्तोऽस्म्येतच्चेदन्यस्मा अनुब्रूयास्तत एव ते शिरश्छिन्द्यामिति।

(बृहदा०शा०भा० २।५।१६)

इसके बाद अपने वाक्यका उपसंहार करते हुए ऋषिने कहा—'बीचहीमें सिर कट जायगा तो विद्या अधूरी ही रह जायगी। मैं पूरी विद्याका उपदेश कैसे कर सकता हूँ?' इसपर अश्विनीकुमारोंने कहा—'हम दोनोंने एक उपाय ढूँढ़ निकाला है। आपके पढ़ानेके पहले हम आपका मस्तक काटकर कहीं सुरक्षित रख देंगे, इसके बाद अश्वका सिर काटकर आपके सिरमें जोड़ देंगे। इस प्रकार पहले अश्वके सिरसे उपदेश देकर फिर निजी मस्तकसे आप विद्याका पूरा प्रवचन कर सकेंगे।'

ऋषि महान् थे। वे अश्विनीकुमारोंको इस विद्याका अधिकारी समझ चुके थे और अधिकारीको विद्या-प्रदान एक आवश्यक कर्तव्य होता है, दूसरे विद्याका बचाव भी हो रहा था। इसलिये महान् ऋषिने अश्विनीकुमारोंको अपनी स्वीकृति दे दी। उन्होंने अपना मस्तक कटवाकर घोड़ेका सिर लगवा लिया और उसी मस्तकसे विद्याके पूर्वाङ्गका उपदेश दिया। इसी समय इन्द्रने आकर इनका सिर काट डाला। इसके बाद सिद्धहस्त अश्विनीकुमारोंने उनके निजी सिरको धड़में फिरसे जोड़ दिया। इस सिरसे अवशिष्ट समग्र मधु-विद्याका उपदेश अश्विनीकुमारोंके प्रति इन्होंने किया। (बृहदा०शा०भा० २।५।१६)

(ख) दीर्घतमाका कटा सिर जोड़ा गया—दीर्घतमा सूक्तद्रष्टा ऋषि थे। ये ममताके पुत्र थे। एक तो ये जन्मान्ध थे, दूसरे जर्जर वृद्ध हो चुके थे। दास लोग इनकी सेवा करते-करते ऊब चुके थे। वे चाहते थे कि इनका शरीर न रहे तो हमें छुटकारा मिल जाय। सभीने मिलकर असहाय दीर्घतमाको आगमें झोंक दिया। ऋषिने अश्विनीकुमारोंका स्मरण किया। इन दोनों देववैद्योंने ऋषिको बाल-बाल बचा लिया। जलनेका शरीरपर और मनपर कोई खराब असर न पड़ने दिया। दास तो इनको मारनेपर तुले ही थे। अवसर मिलते ही उन लोगोंने ऋषिके हाथ-पैर बाँधकर अथाह जलमें डाल दिया। ऋषिने पुन: अश्विनीकुमारोंकी शरण ली। इस बार भी उनका बाल बाँका न हुआ। दास बहुत उद्विग्न हुए। त्रैतत् तो आपेसे बाहर हो गया और उसने तलवारका ऐसा हाथ जमाया कि सिर कटकर दूर छिटक गया। ऋषिको इस क्रियाकी सुगबुगाहट मिल गयी थी, इसलिये उन्होंने तुरंत अश्विनीकुमारोंको याद करना शुरू कर दिया था। परिणाम यह हुआ कि दयालु अश्विनीकुमार आये और दूर पड़े हुए सिरको जोड़कर उन्हें भला-चंगा बना दिया। (ऋ० १।१५८)

(ग) शरीरके तीन कटे टुकड़ोंको जोड़ना—शत्रुओंने श्याव ऋषिके शरीरको काटकर तीन टुकड़े कर दिये थे। अश्विनीकुमारोंने तीनों टुकड़ोंको जोड़कर उन्हें पुनर्जीवित कर दिया। (ऋ० १। ११७)

(घ) कटी जाँघके स्थानपर लोहेकी जाँघ लगाना—

खेल नामक एक सुयोग्य राजा थे। अगस्त्यजी उनके पुरोहित थे। उनकी पत्नी विश्पला थी। वह युद्धमें कुशल थी, संग्राममें लड़ने जाया करती थी, एक दिन युद्धमें शत्रुओंने उसकी एक जाँघ काटकर अलग कर दी। अगस्त्यजीने अश्विनीकुमारोंकी स्तुति की। अश्विनीकुमार आ गये और विश्पलाको लोहेकी जाँघ लगा दी तथा तुरंत ही इस योग्य बना दिया कि वह चलने-फिरने लगी और छिपे हुए धनको दूसरी जगह ले गयी। (ऋ० १।११६।१५)

(२) वृद्धसे युवा बनाना

(क) च्यवन ऋषिको यौवन प्रदान—च्यवन मुनि महर्षि भृगुके पुत्र थे। जन्मसे ही तेजस्वी और तपस्याके प्रेमी थे। एक बार उन्होंने वैदूर्य पर्वतके निकट नर्मदाके तटपर तपस्या आरम्भ की। एकाग्र होनेसे वे ठूंठे काठके समान जान पड़ते थे। धीरे-धीरे दीमकोंने उनको मिट्टीसे ढक दिया। लताएँ उनपर चढ़ गयीं। किंतु तपस्यामें लीन च्यवनको इन सबका भान नहीं था। उन्हीं दिनों राजा शर्याति इस सरोवरके तटपर अपने पूरे लाव-लश्करके साथ आये। राजा शर्याति आदर्श प्रजापालक थे और जनताके प्रिय थे। सब सुख होनेके बावजूद संतानके नामपर केवल एक सुन्दर पुत्री थी, जिसका नाम था सुकन्या। सुकन्याको वह वनस्थली बहुत भायी। वह सखियोंके साथ वनमें इधर-उधर घूमने लगी। घूमते-घामते वह च्यवनकी उस बाँबीके पास जा पहुँची। वहाँकी भूमि बहुत ही सुहावनी थी। उन लोगोंकी चहलकदमीसे ऋषिका ध्यान टूट गया। संयोगसे कन्या अकेली ही बाँबीके पास जा पहुँची। उसकी सुन्दरता देख च्यवनको बहुत आह्लाद हुआ। उन्होंने सुकन्याको पुकारा, किंतु वह आवाज इतनी क्षीण थी कि सुकन्या उसे सुन न सकी। वह आवाज प्रेमसिक्त थी। वातावरणमें मादकता लाती हुई, फूलने-फलने लगी। इधर जब सुकन्याने उस बाँबीमें चमकती हुई दो चीजें देखी, तब उसे बहुत कौतूहल हुआ। इतना कौतूहल हुआ कि उस रहस्यको जाननेके लिये उन्हें काँटेसे बेध दिया। ऋषि च्यवनमें सभी गुण थे, किंतु उनमें क्रोध नामका बहुत बड़ा दुर्गुण घर किये बैठा था। आँखें बींध जानेसे वह क्रोधसे लाल हो गये और उन्होंने शर्यातिकी सेनाके मल-मूत्र बंद कर दिये। राजा शर्यातिकी सेना अनुशासित थी, किंतु मल-मूत्रावरोधसे वह छटपटाने लगी। जो जहाँ था वह वहीं कराहने लगा।

राजा समझ गये कि यहाँ जो च्यवन ऋषि कहीं तप कर रहे हैं, उनकी हमारी ओरसे कोई अवज्ञा अवश्य हो गयी है। उन्होंने सबसे पूछा—यहाँ च्यवन ऋषि तपस्या कर रहे हैं, वे स्वभावत: क्रोधी हैं, उनका किसीने अपराध तो

नहीं किया? शीघ्र बता दें। सुकन्याने आपबीती सुना दी। यह सुनकर शर्याति शीघ्र ही बाँबीके पास गये, उन्होंने बाँबीसे ढके वयोवृद्ध महात्मा च्यवनको देखा और उनसे अपने सैनिकोंका कष्ट-निवारण करनेके लिये प्रार्थना की। उन्होंने कहा—'मेरी पुत्रीसे अज्ञानवश आपका अपराध हो गया है, आप उस अपराधको क्षमा करें।'

वृद्ध ऋषि सुकन्यापर पहले ही आसक्त हो गये थे। उन्होंने कहा—'मैं इस अपराधको तभी क्षमा कर सकता हूँ, जब तुम्हारी कन्या पतिरूपमें मुझे वरण कर ले।'

राजा निरुपाय थे। उन्हें अपनी महान् हृदयवाली पुत्रीपर विश्वास था कि वह प्रजाके हितके लिये अपना बलिदान स्वीकार कर लेगी। उन्होंने महात्मा च्यवनको अपनी पुत्री दे दी। च्यवन मुनिके प्रसन्न होते ही सभी संकट टल गये। खुशी-खुशी लोग राजधानी लौट आये।

सुकन्याका ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। वह तप और नियमका पालन करती थी। प्रेमपूर्वक पतिकी सेवा करने लगी। च्यवनकी जिस क्षीण आवाजको वह पहले नहीं सुन सकी थी, उसे अब वह कण-कणमें गूँजती हुई सुन रही थी। शरीर बूढ़ा होता है, किंतु प्रेम निरन्तर तरुण ही बना रहता है। पतिप्रेम ही पत्नीके लिये धर्म है और उस धर्ममें च्यवनकी वह क्षीण आवाज प्राणका संचार कर रही थी। उन्हीं दिनों रुग्ण मानवोंकी खोज[1]में दोनों अश्विनीकुमार पृथ्वीपर विचरण कर रहे थे। संयोगसे वे च्यवनके आश्रमकी ओरसे कहीं जा रहे थे। उस समय सुकन्या स्नान करके अपने आश्रमकी ओर लौट रही थी। उसे देखकर अश्विनीकुमारोंको बहुत विस्मय हुआ। उन्होंने उससे पूछा—'तुम किसकी पुत्री और किसकी पत्नी हो?' सुकन्याने अपने पिता और पतिका नाम बताया, फिर अपना नाम भी बता दिया। अन्तमें कहा कि 'मैं अपने पतिदेवके प्रति निष्ठा रखती हूँ।'

अश्विनीकुमारोंने परीक्षाकी दृष्टिसे कहा—'सुकन्ये! तुम अप्रतिम रूपवती हो, तुम्हारी तुलना किसीसे नहीं की जा सकती। ऐसी स्थितिमें उस वृद्ध पतिकी उपासना कैसे करती हो, जो काम-भोगसे शून्य है? अतः च्यवनको छोड़कर हम दोनोंमेंसे किसी एकको अपना पति चुन लो।' सुकन्याने नम्रतासे कहा—'महानुभावो! आप मेरे विषयमें अनुचित आशंका न करें, मैं अपने पतिमें पूर्ण अनुराग रखती हूँ। प्रेम आदान नहीं, प्रदान चाहता है। पतिका सुख ही मेरा सुख है।'

सुकन्या परीक्षामें उत्तीर्ण हो चुकी थी। दोनों देववैद्योंको इससे बहुत संतोष हुआ। वे बोले—'हम दोनों देवताओंके श्रेष्ठ वैद्य हैं—**'आवां देवभिषग्वरौ'** (महा० वन० १२३। १२)। तुम्हारे पतिको हम अपने-जैसा तरुण और सुन्दर बना देंगे, उस स्थितिमें तुम हम तीनोंमेंसे किसी एकको अपना पति बना लेना। यदि यह शर्त तुझे स्वीकार हो तो तुम अपने पतिको बुला लो।'

सुकन्याने जब च्यवनसे इस घटनाको सुनाया तो सुन्दरता और यौवन पानेके लिये वे ललचा उठे। वे अश्विनीकुमारोंके अद्भुत चमत्कारसे अवगत थे, अतः सुकन्याके साथ वे अश्विनीकुमारोंके पास पहुँचे।

अश्विनीकुमारोंने पहले तो च्यवन ऋषिको जलमें उतारा। थोड़ी देर बाद वे स्वयं भी उसी जलमें प्रवेश कर गये। एक मुहूर्ततक जलके अंदर अश्विनीकुमारोंने च्यवनकी चिकित्सा की।[2] इसके बाद वे तीनों जब जलसे बाहर निकले तीनोंका रूप-रंग एवं अवस्था एक ही-जैसी थी। उन तीनोंने सुकन्यासे एक साथ ही कहा—'हम तीनोंमेंसे किसी एकको अपनी रुचिके अनुसार अपना पति बना लो।'
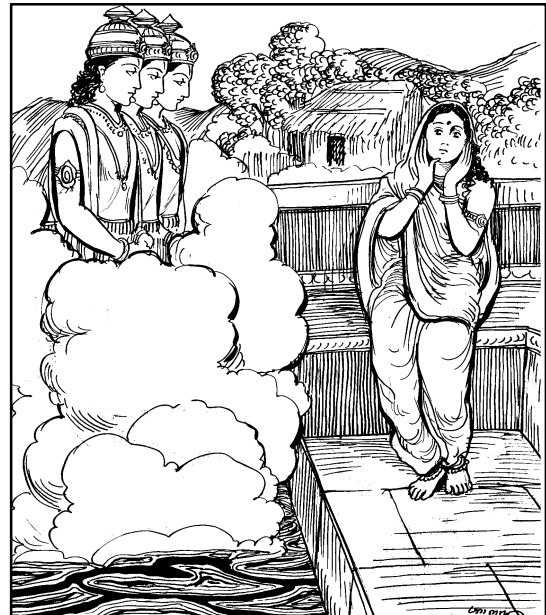
१. एतस्मिन् समये भुवं विचरन्तौ भिषज्यन्तौ (श०ब्रा० ४। १। ५। ८ व्याख्या)

२. ऋग्वेदने स्पष्ट लिखा है कि देववैद्य अश्विनीकुमारोंने औषध-प्रयोगके द्वारा ही बूढ़े च्यवन ऋषिको युवा बनाया था—युवं च्यवानमश्विना जरन्तं पुनर्युवानं चक्रथुः शचीभिः। (अश्विना) हे अश्विनीकुमारो! (युवं) तुम दोनोंने (शचीभिः आत्मीयैर्भैषज्यलक्षणैः कर्मभिः) (सायण) भैषज्यरूप कार्यके द्वारा (जरन्तं च्यवानम्) बूढ़े च्यवन ऋषिको (युवानम्) फिरसे जवान (चक्रथुः) किया था। (ऋक्० १। ११७। १३)

प्रारम्भमें तो सुकन्या ठगी-सी खड़ी रह गयी। उन तीनोंमेंसे उसका पति कौन है, वह समझ नहीं पाती थी। अन्तमें उसके पातिव्रत्य धर्मने उसका साथ दिया। वह पतिको पहचान गयी और उसने च्यवनको पतिके रूपमें चुन लिया। सुकन्या इस बार भी परीक्षामें खरी उतरी।

च्यवन मुनिने तरुण अवस्था, मनोवाञ्छित रूप और पतिव्रता पत्नीको पाकर बहुत ही हर्षका अनुभव किया। वे देववैद्य अश्विनीकुमारोंका आभार मानने लगे। उन्होंने प्रसन्न होकर दोनों देवोंसे कहा—'आप दोनोंने मुझे उपकारके बोझसे लाद दिया है, यह तभी हलका होगा, जब मैं आप दोनोंको यज्ञमें देवराज इन्द्रके सामने ही सोमपानका अधिकारी बना दूँगा—

कृतो भवद्भ्यां वृद्धः सन् भार्यां च प्राप्तवानिमाम्।
तस्माद् युवां करिष्यामि प्रीत्याहं सोमपीथिनौ।
मिषतो देवराजस्य सत्यमेतद् ब्रवीमि वाम्॥

(महाभारत वन० १२३। २३)

जर्जर बूढ़ेका जवान हो जाना और देवताओंमें सबसे सुन्दर अश्विनीकुमारोंकी सुन्दरताका उस शरीरमें उतर जाना—ये दोनों बातें ऐसी विलक्षण थीं कि बात-ही-बातमें सारी दुनियामें फैल गयीं। राजा शर्यातिने जब यह शुभ समाचार सुना तो उन्हें वह सुख मिला, जो सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य मिल जानेसे ही हो सकता है। सुकन्याकी माता तो प्रसन्नतासे रो पड़ी। राजा पत्नी और सेनाके साथ महर्षि च्यवनके आश्रमपर आये। वहाँ च्यवन और सुकन्याकी जोड़ीको सुखी देखकर पत्नीसहित शर्यातिको इतना हर्ष हुआ कि वह रोमावलियोंसे फूट पड़ा। च्यवन ऋषिने आये हुए लोगोंका अत्यधिक आदर किया। राजा और रानीके समीप बैठकर सुन्दर-सुन्दर कथाएँ सुनायीं। अन्तमें च्यवनने कहा—'राजन्! मैं आपसे यज्ञ कराऊँगा, आप तैयारी करें।' महर्षि च्यवनके इस प्रस्तावसे राजा शर्याति बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उनके कथनका बहुत सम्मान किया।

समयसे यज्ञ प्रारम्भ हो गया। महर्षि च्यवनने दोनों अश्विनीकुमारोंको देनेके लिये हाथमें सोमरस लिया। देवराज इन्द्र वहीं बैठे थे, उन्होंने मुनिको मना किया। उन्होंने कहा कि मेरा मत यह है कि वैद्यवृत्तिके कारण इन्हें यज्ञमें सोमपानका अधिकार नहीं रह गया है—

उभावेतौ न सोमार्हौ नासत्याविति मे मतिः।
भिषजौ दिवि देवानां कर्मणा तेन नार्हतः॥

(महाभारत वन० १२४। ९)

च्यवनने कहा—'देवराज! ये अश्विनीकुमार भी देवता ही हैं, इनमें उत्साह और बुद्धिमत्ता—ये दोनों भरे हुए हैं। रूपमें सब देवताओंसे ये बढ़-चढ़कर हैं। इन्होंने मुझे देवताओंके समान दिव्य रूपसे युक्त और अजर बनाया है। फिर इन्हें यज्ञमें सोमरसका अधिकार कैसे नहीं?'

इन्द्रने उत्तर देते हुए कहा—'ये दोनों चिकित्साका कार्य करते हैं और मनमाना रूप धारण करके मनुष्य-लोकमें भी विचरण करते हैं, ऐसी स्थितिमें इन्हें सोमपानका अधिकार कैसे रह सकता है?'

इन्द्र इस बातको बार-बार दोहराने लगे। तब समर्थ महर्षि च्यवनने इन्द्रकी बातोंकी अवहेलना करके अश्विनीकुमारोंको देनेके लिये सोमरस उठा लिया। 'महर्षि च्यवन! यदि तुम इन्हें सोमरस दोगे तो मैं तुमपर वज्रसे प्रहार करूँगा।' इसके जवाबमें महर्षि मुसकराये और अश्विनीकुमारोंको देनेके लिये सोमरस हाथमें ले लिया। देवराज इन्द्रने प्रहार करनेके लिये वज्र उठा लिया। तब महर्षि च्यवनने उनकी भुजाको ही स्तम्भित कर दिया और मन्त्रोंका उच्चारण कर अश्विनीकुमारोंके लिये अग्निमें सोमरसकी आहुति दे दी।

इसके बाद इन्द्रको मारनेके लिये च्यवन ऋषिने अपने तपोबलसे एक कृत्या प्रकट कर दी। वह कृत्या बहुत ही भयानक थी। उसका नीचेका ओठ धरतीपर लगा हुआ था और दूसरा स्वर्गलोकतक पहुँच गया था। भयंकर गर्जना कर वह कृत्या इन्द्रको खानेके लिये दौड़ी, इन्द्र घबड़ा गये। उन्होंने महर्षि च्यवनसे कहा—'आप मुझपर प्रसन्न हों, ये दोनों अश्विनीकुमार आजसे सोमपानके अधिकारी होंगे। इस कृत्याको आप हटा दें। मैंने तो यह कार्य इस उद्देश्यसे किया है, जिससे आपकी शक्ति अधिक-से-अधिक प्रकाशमें आये तथा विश्वमें सुकन्या और उसके पिताकी कीर्तिका विस्तार हो।' यह सुनकर महर्षि च्यवनका क्रोध शान्त हो गया, उन्होंने देवेन्द्रके सब कष्टोंको हटा लिया।

(ख) वन्दन ऋषिको यौवन प्रदान—वन्दन ऋषि अश्विनीकुमारोंपर बहुत भरोसा रखते थे। उनकी कारुणिकतापर उन्हें गहरा विश्वास था और वे प्रतिदिन अश्विनीकुमारोंकी स्तुति किया करते थे। अश्विनीकुमारोंपर श्रद्धाके साथ-साथ इनकी उम्र भी बढ़ती चली गयी। बुढ़ापा आ गया। धीरे-धीरे बुढ़ापेका असर इनके अङ्ग-प्रत्यङ्गपर लक्षित होने लगा। चलना-फिरना कठिन होने लगा। तब इन्होंने अश्विनीकुमारोंसे प्रार्थना की कि वे इनके बुढ़ापेको हटा दें। परम दयालु अश्विनीकुमारोंने इनकी प्रार्थना सुन ली और शीघ्र ही इनके पास आ गये। फिर उन्होंने इनके शरीरके शिथिल अङ्गोंको वैसे ही नया बना दिया जैसे कोई शिल्पी किसी पुराने रथको उसके अवयवोंको इधर-उधर घटा-बढ़ाकर नया बना देता है (ऋ० १।११९।७)। अश्विनीकुमार अत्यन्त दयालु हैं। उन्होंने नवयौवन तो प्रदान किया ही साथ ही इनकी याचनासे भी आगे बढ़कर उन्होंने इनकी आयुको भी बढ़ा दिया। अश्विनीकुमारोंकी कृपामयी दृष्टिसे इनके जीवनमें जो भी विघ्न आते थे, उसे वे टालते जाते थे। एक बार वन्दन ऋषि कुँएमें गिर गये। अश्विनीद्वयने इनको कुँएसे भी बाहर निकाल दिया। कुँएमें गिर जानेसे इनकी पत्नी बहुत रो-धो रही थीं, उन्हें भी आश्वस्त कर दिया (ऋ० १।११६।६)।

(ग) घोषाको युवावस्था प्रदान—घोषा कक्षीवान् ऋषिकी कन्या थी। वह कुष्ठरोगसे ग्रसित हो गयी थी। विवाह न होनेसे पिताके घरमें ही रहती थी। तपश्चर्याको उसने अपने जीवनका अङ्ग बना लिया था। उम्र ढल जानेपर उसके मनमें संताप हुआ कि एक स्त्रीके लिये उसका पति ही सब कुछ होता है, पतिकी सेवासे बढ़कर स्त्रीके लिये और कोई कर्तव्य नहीं रहता। पति नहीं रहनेसे पुत्र भी न होगा और परलोकके लिये पुत्र आधार होता है। अतः पुत्रका होना भी एक स्त्रीके लिये आवश्यक होता है, किंतु मैं दोनोंसे शून्य हूँ। इस चिन्ताने धीरे-धीरे उसपर अधिकार जमा लिया।

आतस्थे महती चिन्ता न पुत्रो न पतिर्मम॥

(बृहद्देवता ७।४३)

पीछे उसे याद आया कि मेरे पिताके सामने भी यह बुढ़ापा एक समस्या बनकर खड़ी हो गयी थी, तब पिताजीने दोनों अश्विनीकुमारोंका सहारा लिया था और उनको प्रसन्न करके जवानी प्राप्त कर ली थी, जवानीके साथ लम्बी आयु, आरोग्य एवं ऐश्वर्य भी प्राप्त कर लिये थे। दोनों अश्विनीकुमार बहुत दयालु हैं, उन्होंने पिताजीको '**सर्वभूतहन्**' विष भी दिया था, जिससे सभी उपद्रवोंका हनन होता था।

इससे घोषामें आत्मविश्वास जाग उठा। वह सोचने लगी कि मैं उन्हींकी पुत्री हूँ। मैं भी पिताकी तरह जवानी, रूप और सौभाग्य प्राप्त कर सकती हूँ। मुझे भी अश्विनीकुमारोंको संतुष्ट करना चाहिये। परंतु उसे दुःख हुआ कि अश्विनीकुमारोंके संतुष्ट करने लायक उसके पास कोई मन्त्र नहीं है। इस चिन्ताको उसके तपने दूर कर दिया। तपस्याके प्रभावसे दो सूक्तों (ऋ० १०।३९-४०)- का उसे दर्शन हो गया। इन दो सूक्तोंके गानसे अश्विनीद्वय प्रसन्न हो गये। अश्विनीकुमारोंने घोषाको भी जवान बना दिया, रोगसे रहित कर दिया और सुन्दर भी बना दिया। अश्विनीकुमार इतने दयालु हैं कि उन्होंने घोषाके लिये पतिकी भी व्यवस्था कर दी और पुत्रके रूपमें ऋषि सुहस्त्यको प्रदान किया (बृहद्देवता)।

(घ) श्याव ऋषिका कुष्ठ हटाकर उन्हें जवान बनाया—घोषाकी तरह श्याव ऋषिके कुष्ठको भी अश्विनीकुमारोंने ठीक कर दिया था और उन्हें इस योग्य बना दिया कि वे विवाह भी कर सकें। विवाह करा भी दिया (ऋ० १।७८)

श्याव ऋषिके एक ओरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग कुष्ठरोगसे गल गये, अश्विनीकुमारोंने उन्हें भी शीघ्र ही भला-चंगा कर दिया (ऋ० १।११७।२४)।

(३) अंधोंको आँखें दीं

(क) एक बार उपमन्युने आकके पत्ते खाये, पत्तोंने पेटके अंदर आगकी ज्वाला उठा दी। जिससे आँखोंकी ज्योति नष्ट हो गयी, बेचारा अंधा हो गया। अंधा होनेके कारण कुँएमें गिर पड़ा। जब शामको उपमन्यु अपने गुरु आयोद धौम्यके पास नहीं पहुँचा, तब उपाध्याय उसे खोजनेके लिये स्वयं जंगलमें चले गये और आवाज लगायी—'उपमन्यु! कहाँ हो? चले आओ।' उपमन्युने कुँएमेंसे ही आवाज लगायी—'गुरुजी! मैं कुँएमें गिर पड़ा हूँ। निकल नहीं सकता।' जब उपाध्यायको पता चला कि आकके पत्ते खानेसे इसकी आँखें खराब हो गयी हैं, तब उन्होंने उपमन्युसे कहा—'बेटा! अश्विनीकुमार देवताओंके वैद्य हैं, तुम उनकी स्तुति करो, वे तुम्हारी आँखें ठीक कर देंगे।' उपमन्युने गुरुकी आज्ञा पाकर अश्विनीकुमारोंकी ऋग्वेदके मन्त्रोंद्वारा स्तुति प्रारम्भ की। दयालु अश्विनीकुमार रमणीक स्तुति सुनकर झट वहाँ आ गये और प्यारभरे शब्दोंमें बोले—'उपमन्यो! यह पुआ है, इसे खा लो।' उपमन्युने नम्रतासे कहा—'भगवन्! मैं ब्रह्मचारी हूँ। बिना गुरुके निवेदन किये[१] इस पुएको नहीं खा सकता हूँ। अश्विनीकुमारोंने कहा—'ऐसा ही करो। तुम्हारी इस गुरुभक्तिसे हम प्रसन्न हैं, इससे तुम्हारी आँखें तो ठीक हो ही जायँगी, तुम्हारे दाँत भी सोनेके बन जायँगे। इतना ही नहीं, तुम्हारी बुद्धिमें सम्पूर्ण वेद तथा सभी धर्मशास्त्र स्वतः स्फुरित हो जायँगे।' (महा० आदिपर्व अ० ३)

(ख) इसी प्रकार ऋजाश्वके दोनों नेत्र नष्ट हो गये थे। वे कुछ भी देख नहीं पाते थे, चिकित्साके द्वारा अश्विनीकुमारोंने ऋजाश्वकी आँखें भी ठीक कर दीं (ऋग्वेद १।११६।१६)।

(ग) असुरोंने कण्व ऋषिकी आँखोंको आगसे झुलसा दिया था। वे कुछ भी नहीं देख पाते थे। अश्विनीकुमारोंने उनकी भी आँखें ठीक कर दीं (ऋग्वेद १।११८।७)।

(घ) कवि भी आँखोंके न रहनेसे चल-फिर नहीं सकते थे। अश्विनीकुमारोंने उन्हें आँखें दीं (ऋ० १। ११७। ८)।

वध्रिमती नामकी एक सती महिला थी, पुत्रके बिना बहुत दुःखी रहती थी, उसने भी अश्विनीकुमारोंकी शरण ली। दोनों वैद्योंने उसे 'हिरण्यहस्त' नामक बहुत सुन्दर और योग्य पुत्र प्रदान किया (ऋग्वेद १।११७।२४)।

इस प्रकार वेद और पुराणने अश्विनीकुमारोंको प्राणियोंपर दया करनेवाले दक्ष वैद्यके रूपमें हमारे सामने उपस्थित किया है। अन्तमें उनकी प्रशंसामें कहा है—

'हे अश्विनीकुमारो! रोगग्रस्त पुरुषको जिसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये हों, उन्हें स्वस्थ कर दो। आप अङ्ग-प्रत्यङ्गको जोड़कर पहले जैसा ठीक बना देते हैं।'

अत्रिके अपत्य पौर ऋषिके शब्दोंमें—'हे अश्विनीकुमारो! हमारे पिता अत्रि असुरोंद्वारा अग्निमें झोंक दिये गये थे, तब आपके स्तवनसे उन्हें कोई ताप नहीं हुआ था (ऋ० ५। ७३।६)। ऋषिने पुनः कहा—हे अश्विनीकुमारो! पुरातत्त्वके जाननेवाले विद्वान् जो आपको 'सुखदाता' कहते हैं, वह निश्चय ही सत्य है (ऋ० ५। ७३। ९)। (ला०बि०मि०)

---

१. आयुर्वेदने शिष्योंको आदेश दिया है कि तुम पहले गुरुको अर्पण करो, उसके बाद उसका उपयोग करो—पूर्वं गुर्वर्थोपाहरणे यथाशक्ति प्रयतितव्यम् (चरक वि० अ० ८।१३)।

देवराज इन्द्रका शल्यकर्म

[जिनका अध्यापन भूतलपर आयुर्वेदके रूपमें अवतीर्ण हुआ]

देवराज इन्द्रने अश्विनीकुमारोंसे आयुर्वेदको प्राप्त किया। इस शाश्वत विद्याको अश्विनीकुमारोंने दक्ष प्रजापतिसे और दक्ष प्रजापतिने ब्रह्माजीसे प्राप्त किया था। त्रिदेवोंकी तरह देवराज इन्द्रने भी आयुर्वेदका प्रयोगात्मक रूप अश्विनीकुमारोंके ऊपर ही छोड़ रखा था; क्योंकि इन्द्रके ऊपर तीनों लोकोंके पालनका विपुल भार था (महा० आदि० ३।१४८-१४९)। फिर अन्य देवोंकी तरह अन्तरङ्ग अवसर आनेपर इन्द्रने भी आयुर्वेदको प्रयोगात्मक रूप दिया है। जैसे—(१) अपालाके चर्मरोग तथा उसके पिताके खालित्यका निवारण एवं (२) परावृज ऋषिके अंधापन और पङ्गुरोगका निवारण।

(१) अपाला अत्रिकी पुत्री थी, वह चर्मरोगसे पीडित थी। इसलिये उसके पतिने दुर्भगा कहकर उसे त्याग दिया था। वह पिताके घरमें रहने लगी और त्वचाके इस रोगको दूर करनेके लिये इन्द्रकी उपासना करने लगी। आगे चलकर उपासनाने कठोर तपका रूप ले लिया। एक बार अपालाके मनमें आया कि देवराज इन्द्रको सोमका रस बहुत भाता है, क्यों न उन्हें सोमपान करा दूँ! वह सोमकी खोजमें नदीके तटपर पहुँची। नहाकर जब लौट रही थी, तो सोमलता उसे प्राप्त हो गयी। वह बहुत प्रसन्न हुई। उसने एक ऋचा '**कन्यावा०**' (ऋक्० ८।९१।१)-से सोमकी स्तुति की (बृहद्देवता ६।१०१)। उसने सोमको चबाया और चबाकर '**असौ य एषि०**' (ऋक्० ८।९१।२) इस ऋचासे इन्द्रका आवाहन किया (बृहद्देवता ६।१०२)।

देवता अपने भक्तोंकी अभिलाषा जानते हैं। इन्द्रने भी समझ लिया कि अपाला हमें सोमरस पिलाना चाहती है। वे तुरंत उसके सामने आ पहुँचे। अपाला उन्हें पहचान न सकी। सोमलता चबाते समय दाँतोंके घर्षणसे मीठी ध्वनि आ रही थी, उसको लक्ष्यकर इन्द्रने पूछा—'क्या पत्थरोंसे सोम पीसा जा रहा है?' अपालाने उत्तर दिया 'नहीं'; इस उत्तरको सुनकर इन्द्र लौटने लगे। अपाला पहचान नहीं रही थी। संदेहमें पड़कर बोली—'आप लौट क्यों रहे हैं? आप तो सोम पीनेके लिये घर-घर पहुँचा करते हैं, आप मेरे घर चलिये, आपका अधिक सम्मान करूँगी, वहाँ सोम पिलाऊँगी तथा भूजा हुआ जौ, गुड़ और अपूप भी दूँगी।' जब इन्द्र अपालाके घर पहुँचे तो उसने इन्द्रको पहचान लिया। उसने अपने मुखमें रखे हुए सोमसे कहा—'हे सोम! तुम आये हुए इन्द्रके लिये शीघ्र ही निचुड़ जाओ।' देवता भक्तवत्सल होते हैं। इन्द्रने अपालाकी इच्छा पूर्ण कर दी और उसका दिया सोम पी लिया। प्रसन्न होकर बोले—'अपाले! बोलो, तुम क्या चाहती हो? मैं तुम्हारी कामनाएँ पूर्ण करूँगा।' अपालाने प्रथम वर यह माँगा—'पिताजीका सिर गंजा हो गया है, आप उनका खालित्य मिटा दें।' उसने द्वितीय वर माँगा—'पिताजीका खेत ऊसर हो गया है, वह हरा-भरा और फलोंसे लद जाय।'

इन्द्रने अत्रिके खालित्यदोषको हटा दिया और उनके ऊसर खेतको हरा-भरा भी बना दिया। उसके बाद इन्द्रने अपालाके चर्म रोगको हटानेके लिये शल्य-क्रियाका प्रयोग किया। यहाँ शल्यका काम उन्होंने अपने रथके जुएके बीचके छिद्रसे लिया। अपालाको जुएके बीचके छिद्रमें डालकर बाहर खींचा। ऐसा उन्होंने तीन बार किया; उसकी त्वचा पहली बारके छिलनेसे शल्यक (शाही), दूसरी बार गोधा तथा तीसरी बार कृकलास बन गयी। इस प्रकार त्वचाके तीन आवरण निकालकर उसके नीचेकी त्वचाको उन्होंने बिलकुल सूर्यकी तरह चमका दिया (ऋक्० ८।९१।७)।

इन्द्रका हस्तलाघव—अपालाकी त्वचा गिरगिट (कृकलास) और मगरमच्छ (गोधा)-की तरह घिनौनी एवं शाही (शल्यक)-की तरह कँटीली थी। इन्द्रने पहली बारकी शल्यक्रियासे कँटीला भाग छीलकर हटा दिया। दूसरी बार घड़ियाल-जैसी चमड़ीको छीलकर उसके देहसे अलग कर दिया और तीसरी बार गिरगिट-जैसी रूखी चमड़ीको छीलकर अलग कर दिया। इसके बाद उसकी बची हुई त्वचामें सूर्यके तेज-जैसी चमक ला दी। ये सब कृत्य हुए, किंतु इसका दुःखदायी प्रभाव अपालापर न पड़ा। ऐसी चिकित्सा विस्मापक होती है। अपालाको इन क्रियाओंसे वैसे ही कोई कष्ट नहीं हुआ, जैसे दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिके सिरको काटने और जोड़नेमें उनपर उसका कोई

असर नहीं हुआ था। सिर कटते और जुड़ते गये, किंतु उनका अध्यापनका कर्म चलता ही रहा, जैसे कुछ हुआ ही न हो। अश्विनीकुमारोंका वह हस्तलाघव इनके शिष्य इन्द्रमें भी ज्यों-का-त्यों आ गया था, तभी अपालाको इस शल्यक्रियासे न वर्तमानमें कष्टदायक अनुभूति हुई और न भविष्यमें।

(२) परावृज ऋषिका अंधापन और लँगड़ापन हटाना—परावृज अंधे और लँगड़े हो गये। देवराज इन्द्रने उनका अंधापन मिटा दिया। आकृति भी सुन्दर बना दी और लँगड़ापन हटाकर चलने-फिरनेके योग्य बना दिया।

(ला०बि०मि०)

भूतलपर आयुर्वेदके प्रकाशक महर्षि भरद्वाज

अथ भूतदयां प्रति—जिस प्रकार पितामह ब्रह्माने अपनी संततियोंपर दयार्द्र होकर आयुर्वेद-ग्रन्थका निर्माण किया, उसी प्रकार प्रत्येक ऋषि प्राणियोंपर करुणा करनेके लिये ही आयुर्वेदके प्रति आकृष्ट हुए हैं। हिमालय प्रदेशमें जो बहुतसे ऋषि इकट्ठे हुए थे, उसका उद्देश्य ही रोगोंसे पीडितोंको बचानेका था—

किं करोमि क्व गच्छामि कथं लोका निरामयाः।
भवन्ति सामयानेतान्न शक्नोमि निरीक्षितुम्॥

(भावप्रकाश पूर्वखण्ड १। १९)

अर्थात् मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ कि संसारके प्राणी रोगसे रहित हो जायँ। मैं किसी व्यक्तिको रोगसे ग्रसित देखनेमें समर्थ नहीं हूँ। यह आवाज केवल आत्रेय ऋषिकी ही नहीं, अपितु प्रत्येक ऋषिकी थी। इसीलिये बिना बुलाये सभी हिमालय प्रदेशमें एकत्रित हो गये।

भरद्वाजकी परदुःखकातरता—भरद्वाज मुनि बचपनसे ही जनताके सुखमें ही अपना सुख देखने लगे थे। वे देवगुरु बृहस्पतिके पुत्र थे। वहाँके वातावरणने उन्हें समझा रखा था कि प्रत्येक मानवका कल्याण वेदसे ही सम्भव है, अतः उन्होंने समग्र वेदकी प्राप्तिका संकल्प ले लिया। वे वेदाध्ययनमें दिन-रात लगे रहते। वेदके मन्त्र-पर-मन्त्र आते-जाते और उनकी समाप्ति कहीं दीखती न थी। इस तरह वेदाध्ययनमें उनका एक सौ वर्ष बीत गया, किंतु वेदका कोई ओर-छोर नहीं दिखायी दे रहा था। वे समझ गये कि केवल अध्ययनसे समग्र वेदकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसलिये देवराज इन्द्रकी सहायता लेनी चाहिये और इस प्रकार अपने श्रमसाध्य तपसे उन्होंने देवराजको प्रसन्न कर लिया। देवराजने उनकी आयुके तीन सौ वर्ष और बढ़ा दिये। अथक श्रममें वे तीन सौ वर्ष भी समाप्त हो गये, किंतु वेदके छोरका कोई पता नहीं लग सका। उनके अध्ययन-रूपी तपस्यासे देवराज बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने दर्शन देकर ऋषि भरद्वाजको कृतार्थ कर दिया तथा कहा कि वेद अनन्त होते हैं—'**अनन्ता वै वेदाः**' (तैत्ति० ब्रा०)। वेदका कोई अन्त नहीं होता। तुम अध्ययनसे समग्र वेद नहीं पढ़ सकोगे, इसलिये '**सावित्राग्निचयन**' नामक यज्ञ कर डालो, जिससे तुम्हें समग्र वेदका ज्ञान स्वतः हो जायगा।

द्रष्टा होनेसे समग्र वेदका दर्शन—इस यज्ञसे सूर्य-भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्होंने भरद्वाजको मन्त्र-द्रष्टा बना दिया (तैत्ति० ब्रा०)। ऋषि द्रष्टा होनेके बाद जिस अंशको चाहते थे, वेदका वह अंश उनकी आँखोंके सामने वैसे ही लिखा हुआ दिखायी पड़ता, जैसे हम अपनी आँखोंसे पुस्तकोंमें देखते हैं। डॉ० पॉलब्रन्टनने महमूदवेकी घटनामें बताया है कि महमूदवेमें कुछ ऐसी गुप्तशक्ति थी, जिसके बलपर वह किसीके मनकी बातको वैसे ही जान लेता था, जैसे हम किसी किताबमें देखकर पढ़ लेते हैं। डॉ० पॉलब्रन्टनकी पुस्तकका अनुवाद 'गुप्त भारतकी खोज' के नामसे प्रकाशित हुआ है। उसमें उन्होंने बताया है कि अध्यात्मविद्याकी खोजमें ये भारत आये, संयोगसे उसी होटलमें ठहरे थे, जिस होटलमें मिस्रका तान्त्रिक महमूदवे ठहरा हुआ था। सबेरे उठकर डॉ० पॉलब्रन्टनने देखा कि उसके बगलवाली कोठरीमें लोग बड़े अदबके साथ क्रमबद्ध आ रहे हैं और किसीसे मिल-जुलकर लौट रहे हैं। इन्हें पता चला कि इसमें मिस्रके तान्त्रिक महमूदवे ठहरे हैं और मनकी बात बताते हैं। पॉलब्रन्टनको बड़ी प्रसन्नता हुई कि भारतकी धरतीपर पैर रखते ही एक गुप्तशक्तिके स्वामीसे उनकी भेंट हुई। वे भी अवसर पाकर महमूदवेसे मिले। औपचारिक बातचीतके बाद इन्होंने प्रश्न किया कि हमने सुना है कि आप किसीके भी मनकी बात जान जाते हैं, यह कहाँतक सत्य है? महमूदवेने मुस्कराकर

कहा—हाँ, यह सत्य है; आप कुछ मनमें रखिये, प्रश्न कीजिये और मैं बता दूँगा। तरीका यह है कि आप अपने मनकी बात एक कागजपर लिख लीजिये, मैं दूर बैठा हूँ। लिखते समय आप परीक्षा करते रहें कि मैं आपकी लिखावटको देख न सकूँ। इतना कहकर वह दूसरी ओर मुँह करके सड़ककी ओर निहारने लगा। फिर बोला—'अगर लिखना समाप्त हो गया हो तो उस कागजको मोड़कर हाथमें रख लो और लिखनेकी पेन्सिल भी उसी हाथमें रख लेना।' डॉ० पॉलब्रन्टनने कहा—'हाँ, मैंने पेन्सिल-कागजको हाथमें रख लिया है।' तब वह डॉक्टरके पास आकर बैठा और उसने कहा कि 'आपने जो पूछा, वह प्रश्न यह है—मैं तीन वर्ष पहले किस पत्रका सम्पादक था—और उस पत्रका नाम अपने हाथके कागजको खोलकर पढ़ लीजिये।' पॉलब्रन्टनने बड़े आश्चर्यसे देखा कि तीन वर्ष पहले जिस पत्रका वह सम्पादक था, उसका नाम हाथके कागजमें लिखा हुआ था।

लंबी कथा है, हमें इस घटनासे यही देखना है कि उसके मनकी बातको उस तान्त्रिकने कैसे पढ़ लिया? पूछनेपर तान्त्रिकने रहस्य बताया कि मैंने कुछ प्रेतात्माओंको वशमें कर लिया है, उसमें मेरा मरा हुआ भाई भी है, उसका काम यह है कि दूसरेके मनकी बात पढ़कर मेरी आँखोंके सामने लिख देता है, मैं उसे बता देता हूँ।

जिस तरह महमूदवे प्रेतात्माके द्वारा लिखी हुई आनुपूर्वीको पढ़ लेता था, उसी तरह ऋषि लोगोंकी आँखोंके सामने भी वेदकी आनुपूर्वी दिखायी दे जाती है।

जैसे ऋषि बन जानेके बाद ब्रह्माका हृदय रेडियो-जैसा प्रतिफलनमें सक्षम हो गया था, वैसे ही ऋषि भरद्वाजका हृदय भी रेडियो बनकर नित्य प्रसारित होनेवाले वेदको मुखसे प्रकट कर देता था और उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा प्रचय—इन चारों स्वरोंके साथ ऋषिको वह मन्त्र सुनायी भी पड़ जाता था।

इस प्रकार वेदका जितना अंश वे चाहते थे, उतना उनको प्रत्यक्ष दिखायी दे जाता था। इस प्रकार समग्र वेदको अध्ययनसे नहीं पाया जा सकता, तपस्यासे जाना सकता है।

समग्र वेदके दर्शन और श्रवणसे समग्र आयुर्वेद भी ऋषि भरद्वाजके हस्तगत हो गया, किंतु आयुर्वेद क्रियात्मक होता है। क्रियात्मक रूप ऋषिके पास नहीं था और रोगी रोगसे पीडित होकर बिलबिला रहे थे। यह समस्या सभी ऋषियोंके सामने थी कि रोगी रोगकी पीडासे परेशान थे और क्रियात्मक रूप न जाननेके कारण हिमालयके एक प्रदेशमें इकट्ठे हो गये। उसमें प्रायः शीर्षस्थानीय सभी ऋषि थे। वहाँ बैठकर ऋषिगण जनताके रोगोंको दूर करनेके लिये उपाय ढूँढ़ने लगे। अन्तमें सभी ऋषियोंने एकमतसे ऋषि भरद्वाजको चुना कि ये देवलोक जाकर इन्द्रसे आयुर्वेद प्राप्त करें। इन्द्रसे प्राप्त किया जो आयुर्वेद होगा, उसे हम लोग क्रमसे पढ़कर रोगसम्बन्धी भयसे मुक्त हो सकेंगे—

त्वं योग्यो भगवन् सहस्रनयनं याचस्व लब्धं क्रमादायुर्वेदमधीत्य यं गदभयान्मुक्ता भवामो वयम्॥

(भावप्रकाश पूर्व० १। ४६)

भूतलपर आयुर्वेदका अवतरण—ऋषियोंकी प्रेरणासे महर्षि भरद्वाज स्वर्गलोक गये, वहाँ इन्द्रसे अङ्गोंसहित आयुर्वेदको पढ़कर पृथ्वीपर लौट आये और आयुर्वेदसे पृथिवीकी जनताको रोगसे मुक्त कर दिया। अन्य ऋषियोंने भी भरद्वाजका साथ दिया और वे दुनियासे रोगकी आर्तिको हटाकर ही संतुष्ट हुए।

शिष्य-परम्पराकी स्थापना—शिष्य-प्रशिष्योंके द्वारा आयुर्वेदके उपयोगी तत्त्वसे प्रत्येक प्राणीको लाभ पहुँचानेके लिये भरद्वाजजीने शिष्योंको पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। उनमेंसे एक महान् शिष्य धन्वन्तरि (अब्ज) थे। ये वही धन्वन्तरि हैं, जो भगवान् विष्णुके अशांशावतार हैं और जिन्होंने समुद्रके भीतर मथे हुए औषधियोंके कणोंका उचित संयोजनकर अमृत-जैसा दिव्य औषध तैयार किया था। काशिराज धन्वने इन्हीं धन्वन्तरिको पुत्ररूपमें प्राप्तिके लिये घोर तप किया था। धन्वन्तरिने उनको वरदान दिया कि हम तुम्हारे यहाँ पुत्ररूपसे अवतीर्ण होंगे। महर्षि भरद्वाजने इन्हीं धन्वन्तरिको सविधि आयुर्वेद प्रदान किया। धन्वन्तरि तो धन्वन्तरि ही ठहरे, उन्होंने महर्षि भरद्वाजसे पढ़कर आयुर्वेदको आठ भागोंमें विभक्त कर दिया—

आयुर्वेदं भरद्वाजात्प्राप्तेः भिषजां क्रियाम्।
तमष्टधा पुनर्व्यस्य शिष्येभ्यः प्रत्यपादयत्॥

(महा०)

इसी तथ्यको ब्रह्माण्डपुराणने भी लिखा है।

(ला०बि०मि०)

महर्षि वाल्मीकिके आरोग्य-साधन

[रामायणकालीन भारतमें चिकित्सा-व्यवस्था]

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणका स्वाध्याय करनेपर सर्वसाधन-सम्पन्न, सर्वथा स्वस्थ अतएव एक परम प्रसन्न समाजका चित्र बरबस हमारी आँखोंके सामने उभरकर आता है। चक्रवर्ती साम्राज्यकी तत्कालीन राजधानी अयोध्यामें विविध रोगोंके उपचारके लिये आवश्यक औषधियोंसे भरपूर तथा रोगियोंकी देखभालके लिये नितान्त उपयोगी अन्य समस्त सुविधाओंसे सम्पन्न चिकित्सालयोंकी व्यवस्था थी, जहाँ रोगोंके निदान किंवा उपचारमें परम कुशल सुयोग्य वैद्य सर्वदा सुलभ रहते थे। उनकी सेवाओंसे प्रसन्न होकर समय-समयपर सम्राट् उन्हें विविध रूपोंमें पुरस्कार प्रदान करके सम्मानित किया करते थे—

कच्चिद् वृद्धांश्च बालांश्च वैद्यान् मुख्यांश्च राघव।
दानेन मनसा वाचा त्रिभिरेतैर्बुभूषसे॥

(वा० रा० २।१००।६०)

भगवान् श्रीराम चित्रकूटमें भरतजीसे अन्य समाचारोंके साथ-साथ अयोध्याके वैद्योंका भी कुशल-क्षेम पूछते हैं। वैद्योंको समुचित रूपसे सम्मानित करनेमें भरत कभी प्रमाद तो नहीं करते हैं? यह जिज्ञासा भी प्रकट करते हैं (वा० रा० २।१००।४२)। इतना ही नहीं, भरतजीके साथ चित्रकूट आये हुए वैद्योंसे भी श्रीराम बड़ी तत्परताके साथ मिलते हैं (वा० रा० २।८३।१४)।

कोपभवनमें निश्चेष्ट-अवस्थामें पड़ी हुई कैकेयीको देखकर महाराज दशरथ उन्हें व्याधिग्रस्त समझ बैठते हैं और घबराकर वैद्योंको बुलानेमें व्यग्र हो उठते हैं। कैकेयीको आश्वासन भी देते हैं कि तुम अपनी बीमारी बताओ तो सही, मेरे पास ऐसे कुशल वैद्य हैं जो तुम्हें तुरंत रोगमुक्त कर देंगे—

सन्ति मे कुशला वैद्यास्त्वभितुष्टाश्च सर्वशः॥
सुखितां त्वां करिष्यन्ति व्याधिमाचक्ष्व भामिनि।

(वा०रा० २।१०।३०-३१)

चिकित्सा-पद्धति

रामायणमें अनेक प्रकारकी चिकित्सा-पद्धतियोंका उल्लेख मिलता है। आयुर्वेद-विज्ञानके पारङ्गत वैद्य अपनी-अपनी रसायनशालाओंमें ओषधियोंका निर्माण कराया करते थे। एतदर्थ नाना प्रकारके रोगोंके उपशमनके लिये औषधियोंके निर्माणमें उपयोगी लताओं, गुल्मों, पौधों, पत्तों, जड़ों, फूलों, जटाओं किंवा छालोंके अन्वेषणके लिये बड़ी संख्यामें सहायक वैद्योंका समूह घने जंगलोंमें, पर्वतोंपर तथा पर्वत-कन्दराओंमें नियमित रूपसे विचरण किया करता था; क्योंकि मूर्च्छा, श्वासावरोध, जलोदर, मूत्रावरोध, रक्त-प्रवाह-जैसे अनेक घातक रोगोंपर अनेक वानस्पत्य औषधियाँ जादूकी तरह तत्काल प्रभावकारी सिद्ध होती हैं। राम-रावण-युद्धके समय लक्ष्मणजीके मूर्च्छित हो जानेपर वैद्यराज सुषेण संजीवकरणी (संजीवनी) नामक वानस्पत्यौषधि लानेके लिये श्रीहनुमान्जीको हिमालय पर्वतपर भेजते हैं। वहाँ संजीवकरणीके साथ-साथ तीन और औषधियोंका भी वर्णन किया गया है—

दक्षिणे शिखरे जाता महौषधिमिहानय॥
विशल्यकरणीं नाम्ना सावर्ण्यकरणीं तथा।
संजीवकरणीं वीर संधानीं च महौषधीम्॥

(वा०रा० ६।१०१।३१-३२)

अर्थात् हे वीर! तुम हिमालय पर्वतके दक्षिण शिखरपर उत्पन्न होनेवाली विशल्यकरणी, सावर्ण्यकरणी, संजीवकरणी और संधानी नामक महौषधियाँ जाकर ले आओ।

इन चारों औषधियोंमेंसे मूर्च्छामें संजीवकरणी, बाण या भालेके प्रहारसे घाव हो जानेपर विशल्यकरणी, घावोंके निशान भी न रहने पायें, इसके लिये सावर्ण्यकरणी और टूटी हुई हड्डियोंको जोड़नेके लिये संधानी नामक औषधिका प्रयोग प्रभावकारी सिद्ध हुआ करता था।

महेन्द्र पर्वतपर अपने फणोंपर स्वस्तिकका चिह्न धारण करनेवाले महाभयंकर विषधर सर्प निवास करते थे। उनके प्राणघातक विषको भी समाप्त कर देनेकी क्षमता रखनेवाली अनेक वनौषधियाँ वहाँ पुष्कल मात्रामें उत्पन्न हुआ करती थीं (वा० रा० ५।१।१९)।

वनस्पतियोंसे प्राप्त होनेवाली औषधियोंका प्रयोग तो

रोगोंके उपशमनके लिये किया ही जाता था, परंतु युद्धमें शस्त्र-प्रहारसे कटे हुए अङ्गोंको पुनः जोड़नेके लिये तथा गले-सड़े किसी अङ्गको काटकर शरीरसे अलग कर देनेके लिये आधुनिक शल्यक्रिया (Surgery)-का भी उपयोग किया जाता था। परंतु शल्यक्रियाको प्राथमिकता नहीं दी जाती थी। शस्त्र-प्रहारसे होनेवाले घावोंको तो वनौषधियोंसे भरा ही जाता था, घावोंके कारण होनेवाली भयानक शारीरिक वेदनाको भी जड़ी-बूटियोंसे ही दूर किया जाता था। श्रीलक्ष्मणजीने अपने प्रबल शस्त्र-प्रहारद्वारा देवताओंको भी विस्मित कर डालनेवाले अपूर्व युद्ध-कौशलसे मेघनादको समाप्त तो कर दिया था, परंतु उसके बाण-प्रहारोंसे उनके शरीरमें भी असह्य पीडा देनेवाले अगणित घाव हो गये थे, जिनके कारण उन्हें श्वासतक लेनेमें कठिनाई हो रही थी। उनकी यह करुण दशा देखकर श्रीराम शोक-विह्वल हो उठे। तब वैद्यराज सुषेणने लक्ष्मणजीकी नाकमें एक विशिष्ट औषधि सुँघायी, जिससे उनके शरीरसे बाण निकल गये और वे क्षणभरमें पीडामुक्त हो गये—

लक्ष्मणाय ददौ नस्तः सुषेणः परमौषधम्॥
स तस्य गन्धमाघ्राय विशल्यः समपद्यत।
तदा निर्वेदनश्चैव संरूढव्रण एव च॥

(वा० रा० ६।९१।२४-२५)

परंतु पूर्ण-गर्भा महिलाओंके असावधानीवश फिसलकर गिर जाने अथवा किसी अन्य कारणसे यदि उनका गर्भस्थ शिशु उलट जाता और स्वाभाविक प्रसवके द्वारा उसका बाहर आ पाना सम्भव नहीं हो पाता तो ऐसी गम्भीर परिस्थितिमें वैद्य शल्यक्रियाका ही मार्ग अपनाया करते थे तथा तीक्ष्ण औजारोंके द्वारा आवश्यक चीर-फाड़ करके गर्भस्थ बालकको सफलतापूर्वक बाहर ले आया करते थे।

अशोकवाटिकामें रावण जब जानकीजीको डराते हुए कहता है कि तुमने यदि दो महीनोंके भीतर मेरी बात नहीं मानी तो मेरे रसोइये तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे—

द्वाभ्यामूर्ध्वं तु मासाभ्यां·····सूदाश्छेत्स्यन्ति खण्डशः॥

(वा० रा० ५।२२।९)

तब जानकीजी अपने सम्भावित अङ्गच्छेदको गर्भस्थ बालकके लिये की जानेवाली शल्यक्रियाकी तरह महान् कष्टदायक मानकर व्याकुल हो उठती हैं—

तस्मिन्ननागच्छति लोकनाथे
गर्भस्थजन्तोरिव शल्यकृन्तः।
नूनं ममाङ्गान्यचिरादनार्यः
शस्त्रैः शितैश्छेत्स्यति राक्षसेन्द्रः॥

(वा० रा० ५।२८।६)

अर्थात् लोकनायक श्रीराम यदि समयसे यहाँ नहीं पहुँच पाये तो यह दुष्ट रावण मेरे अङ्गोंको वैसे ही काट डालेगा, जैसे गर्भस्थ शिशुकी (सुख-प्रसवके लिये) शल्यक्रिया करनेवाला वैद्य।

ऐसा प्रतीत होता है कि शल्यक्रियाके समय वैद्योंके सहायक-रूपमें नापित भी उपस्थित रहा करते थे और छोटी-मोटी चीर-फाड़ तो वे ही कर डालते थे; क्योंकि उक्त श्लोककी टीकामें वाल्मीकीय रामायणके प्रामाणिक टीकाकार श्रीगोविन्दराज महोदय '**शल्यकृन्तः**' का अर्थ 'नापित' करते हैं। जो भी हो, महर्षि वाल्मीकि श्रीरामके राज्यकी विशेषताओंमें तीन बातें मुख्यतया बताते हैं—

१-सामान्य जनता नीरोग रहती थी।

२-बूढ़े भी स्वस्थ होनेके कारण शीघ्र नहीं मरते थे।

३-महिलाएँ भी स्वस्थ शरीरवाली होनेके कारण 'अरोग-प्रसवा' थीं।

इस वर्णनसे संकेत मिलता है कि तत्कालीन भारतकी चिकित्सा-व्यवस्था नितान्त सफल एवं सर्वाङ्गीण थी। यथा—

अनामयश्च मर्त्यानां साग्रो मासो गतो ह्ययम्॥
जीर्णानामपि सत्त्वानां मृत्युर्नायाति राघव।
अरोगप्रसवा नार्यो वपुष्मन्तो हि मानवाः॥

(वा० रा० ७।४१।१८-१९)

[भरतजी श्रीरामजीसे कहते हैं कि हे राघव!] आपके राज्यमें अभिषिक्त हुए एक माससे अधिक हो गया, तबसे सभी लोग नीरोग दिखायी देते हैं। बूढ़े प्राणियोंके पास भी मृत्यु नहीं फटकती है। स्त्रियाँ बिना कष्टके प्रसव करती हैं। सभी मनुष्योंके शरीर हृष्ट-पुष्ट दिखायी देते हैं।

इतना ही नहीं, समुचित और उच्च चिकित्सा-व्यवस्था होनेके कारण लोगोंको रोगका भय ही नहीं रह गया था—

न व्याधिजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति।

(वा० रा० ६।१२८।९८)

हमारे पूर्वजन्मोंके पाप ही रोग बनकर प्रकट होते हैं, जो औषधिके साथ-साथ दान, हवन, व्रत और देवार्चनसे दूर होते हैं, यह श्रीधन्वन्तरिका कथन है—

पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते।
तच्छान्तिरौषधैर्दानैः जपहोमसुरार्चनैः॥

इस तथ्यपर भी तत्कालीन समाजका दृढ विश्वास था। तभी उस समयके स्त्री-पुरुष दान, पुण्य व्रत किंवा भगवदाराधना-जैसे आध्यात्मिक क्रिया-कलाप रोगमुक्तिके लिये भी किया करते थे। श्रीहनुमान्‌जीके आविर्भावके समय वायुदेवताके प्रकुपित हो जानेपर जब मूत्रावरोध-जैसा भयंकर रोग फैल गया, तब स्त्री-पुरुषोंने सम्मिलित रूपसे वायुदेवताकी ही आराधना की और उनके कृपा-प्रसादसे रोगमुक्त हुए (वा०रा० ७। ३५-३६)।

शासकीय प्रणालीकी असफलतासे किंवा राष्ट्राध्यक्ष आदिके प्रमादसे ही जनपदोंमें रोग फैलते हैं, जिससे अकालमृत्यु- जैसी त्रासद घटनाएँ घटती हैं, यह भावना उस समय समाजमें बद्धमूल थी। इसलिये शासकीय व्यक्ति अपने आचरण एवं चिकित्सा-व्यवस्थापर भरपूर ध्यान दिया करते थे।

(शास्त्रार्थ-पञ्चानन पं० श्रीप्रेमाचार्यजी शास्त्री)

महर्षि वेदव्यासजीका आरोग्य-विषयक अवदान

महर्षि वेदव्यास भगवान् नारायणके अवतार हैं— '**व्यासो नारायणः स्वयम्**', '**व्यासाय विष्णुरूपाय**'। वे अजर-अमर हैं तथा सभी आधि-व्याधियोंसे मुक्त हैं। महर्षि वेदव्यास सात चिरजीवियोंमेंसे एक हैं—'**अश्वत्थामा बलिर्व्यासो०**'।[1] सभी प्रकारकी आधि-व्याधियों तथा रोग-दोषोंसे मुक्तिके लिये और दीर्घ आयु एवं आरोग्यकी प्राप्तिके लिये पुण्यश्लोक भगवान् वेदव्यासजीका नित्य प्रातः स्मरण करना चाहिये। वेदव्यासजी परम भागवत हैं[2], जगत्‌पर इनका महान् उपकार है। सच्चे भक्तोंको ये आज भी दर्शन देते हैं और उनके कष्टोंका निवारण करके उन्हें भगवत्-पथका पथिक बना देते हैं।

महर्षि वेदव्यास वसिष्ठजीके प्रपौत्र, शक्ति-ऋषिके पौत्र, पराशरजीके पुत्र तथा महाभागवत शुकदेवजीके पिता हैं। वे परम गुरु हैं। पुराणोंमें प्रसिद्धि है कि यमुनाके द्वीपमें उनका प्राकट्य हुआ, इसलिये वे द्वैपायन, श्याम (कृष्ण) वर्णके थे, इसलिये कृष्ण द्वैपायन और वेद-संहिताका उन्होंने विभाजन किया, इसलिये व्यास किंवा वेदव्यास कहलाते हैं। वे प्रकट होते ही युवा हो गये और वेदोंका उच्चारण करने लगे। भगवान् वेदव्यासकी कृपासे ही हमें ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि इस रूपमें प्राप्त हुए। अठारह पुराण तथा उपपुराण हमें उनके अनुग्रहसे ही प्राप्त हुए हैं। इतिहास (महाभारत), ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन), व्याසस्मृति तथा योगदर्शन (व्यासभाष्य) आदि सब वेदव्यासजीके द्वारा ही हमें प्राप्त हुए हैं। आजके विश्वका सारा ज्ञान-विज्ञान तथा सम्पूर्ण आरोग्यशास्त्र महर्षि वेदव्यासजीका उच्छिष्ट है— '**व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्**'। '**यन्न भारते तन्न भारते**' के अनुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष आदिके विषयमें जो उनके द्वारा कहा गया है, उसका ही अनुसरण अन्यत्र भी हुआ है, जो उन्होंने नहीं कहा, वह अन्यत्र भी नहीं मिलता।[3] उन्हींकी कृपासे श्रीमद्भगवद्गीता-जैसा ग्रन्थरत्न विश्वको प्राप्त हो सका है—'**व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्**' (गीता १८।७५)। वे महाशाल शौनक आदि कुलपतियों, शंकराचार्य, गोविन्दाचार्य आदि विभूतियोंके भी परम गुरु हैं। उनकी सबपर समान रूपसे कृपा-दृष्टि है।

अपने अध्यात्म, तपोबल, ज्ञान-विज्ञान एवं आरोग्यदानके माध्यमसे उन्होंने प्राणिजगत्‌की जो सेवा की है, जो उपकार किया है, वह चिरस्मरणीय है। संसारके प्राणियोंके दुःख-दर्द, रोग-कष्टोंको देखकर आर्द्रहृदय महर्षि वेदव्यासजी सदा उनके व्याधिहरणका ही उपाय सोचा करते हैं। वेद-संहिताओंमें जो आरोग्यके मूल बीज सन्निहित थे, उन्हें

१. अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः। कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥
२. प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्। रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन् पुण्यानिमान् परमभागवतान् स्मरामि॥
३. धर्मे अर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ। यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥

उन्होंने सबके कल्याणके लिये पुराणोंमें विस्तृतरूपसे प्रकाशित कर दिया—'**इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।**' उन्होंने वेदान्तदर्शन (ब्रह्मसूत्र), श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें जहाँ अध्यात्म-चिकित्सा और भवरोगसे मुक्तिके उपायोंका निदर्शन किया है, वहीं कई पुराणों—गरुडपुराण, अग्निपुराण, ब्रह्मवैवर्त तथा बृहद्धर्मपुराण आदिमें युक्तिव्यपाश्रय-चिकित्साके अवलम्बनसे पथ्यापथ्य-विचारपूर्वक औषध-सेवन तथा संयम-नियमके अनुपालनद्वारा सदा नीरोग रहनेकी जीवन-पद्धति भी निर्दिष्ट की है।

भगवान् वेदव्यासने शरीरमें स्थित कुपित दोषको सभी रोगोंका मूल कारण माना है और दोषके प्रकुपित होनेका कारण अनेक प्रकारके अहित पदार्थोंका सेवन भी बताया है। उन्होंने चार प्रकारके रोग बताये हैं—(१) शारीर, (२) मानस, (३) आगन्तुक तथा (४) सहज। ज्वर, कुष्ठ आदि शारीर रोग हैं, क्रोध आदि मानस रोग हैं, चोट आदिसे उत्पन्न रोग आगन्तुक हैं और भूख-बुढ़ापा आदि सहज रोग हैं—

शारीरमानसागन्तुसहजा व्याधयो मताः।
शारीरा ज्वरकुष्ठाद्याः क्रोधाद्या मानसा मताः॥
आगन्तवो विघातोत्थाः सहजाः क्षुज्जरादयः।

(अग्नि० २८०। १-२)

ओषधियोंमें अमोघ शक्ति होती है और उनमें देवताओंका निवास होता है। सोम (चन्द्रमा) ओषधियोंके अधिष्ठातृ देवता हैं। इसलिये ओषधियोंके चयन, उत्पाटन आदिमें जहाँ उनकी प्रार्थना आदि की जाती है, वहीं चिकित्सा करनेसे पूर्व औषध प्रदान करते समय तथा ओषधि-सेवन करते समय देवताओंसे दीर्घ आयु-आरोग्यप्राप्तिकी प्रार्थना करनी चाहिये, ऐसा महर्षि व्यासजी निर्देश देते हैं—

हरिगोद्विजचन्द्रार्कसुरादीन् प्रतिपूज्य च।
.. भेषजारम्भमाचरेत्॥

(अग्नि० २८०। १२)

अर्थात् भगवान् विष्णु, गोमाता, ब्राह्मण, चन्द्रमा, आरोग्यके अधिष्ठाता भगवान् सूर्य आदि देवताओंका पूजन करके चिकित्सा-कर्म किंवा औषध प्रारम्भ करे।

भगवान् वेदव्यासजी यह निर्देश करते हैं कि रोगीकी आरोग्य-प्राप्तिकी कामनासे औषध-कर्ममें निम्न प्रार्थना करनी चाहिये, ऐसा करनेसे औषधमें देवत्वकी प्रतिष्ठा हो जाती है, फलतः रोग दूर हो जाता है और आनन्दकी प्राप्ति होती है, मन्त्र इस प्रकार है—

ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः।
ऋषयश्चौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्च पान्तु ते॥
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते॥

(अग्नि० २८०। १३-१४)

अर्थात् ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनीकुमार, रुद्र, इन्द्र, भूमि, चन्द्रमा, सूर्य, अनिल (वायु), अनल (अग्नि), ऋषि, ओषधिसमूह तथा भूतसमुदाय—ये तुम्हारी रक्षा करें। जैसे ऋषियोंके लिये रसायन, देवताओंके लिये अमृत तथा श्रेष्ठ नागोंके लिये सुधा ही उत्तम एवं गुणकारी है, वैसे ही यह औषध तुम्हारे लिये आरोग्यकारक एवं प्राणरक्षक हो।

गरुड, अग्नि आदि पुराणोंमें वेदव्यासजीने समग्र अष्टाङ्ग आयुर्वेदका वर्णन किया है। उन्होंने रोगोंके निदान, उनके उपचार, ओषधियों तथा सिद्धयोगोंके वर्णनके साथ ही रसायनशास्त्र, ऋतुचर्या, दिनचर्या, पथ्यापथ्य-विवेक, संयम, नियम, ग्रहदोष, अगदतन्त्र, बालग्रहदोष, स्त्रीचिकित्सा तथा मृत्युञ्जय-योग आदि बताये हैं। इसी प्रकार अश्वायुर्वेद, गजायुर्वेद, गवायुर्वेद तथा वृक्षायुर्वेद आदिका भी वर्णन किया है।

व्यासजी बताते हैं कि सामान्यतया ओषधियोंके निर्माणकी पाँच विधियाँ होती हैं, यथा—रस, कल्क, क्वाथ, शीतकषाय तथा फाण्ट। औषधोंको निचोड़नेसे रस होता है, मन्थनसे कल्क बनता है, औटानेसे क्वाथ होता है, रात्रिभर रखनेसे शीतकषाय तथा जलमें कुछ गरम करके छान लेनेसे फाण्ट होता है, यथा—

ओषधीनां पञ्चविधा तथा भवति कल्पना।
रसः कल्कः शृतः शीतः फाण्टश्च मनुजोत्तम॥
रसश्च पीडको ज्ञेयः कल्क आलोडिताद्भवेत्।
क्वथितश्च शृतो ज्ञेयः शीतः पर्युषितो निशाम्॥
सद्योभिश्रृतपूतं यत् तत् फाण्टमभिधीयते।

(अग्नि० २८१। २१-२३)

यह तो सामान्यतः स्थावर ओषधियोंद्वारा आरोग्य-प्राप्तिकी बात हुई। इसीके साथ ही वेदव्यासजी यह भी बताते हैं कि मन्त्रोंके जप, देवाराधन आदिद्वारा भी प्रारब्धजन्य रोगोंकी चिकित्सा होती है। उन्होंने मन्त्रोंको आयु और आरोग्यका कर्ता बताया है—'**आयुरारोग्यकर्तारम्**' (अग्नि० २८४। १)। वे बताते हैं कि '**ॐ हूं विष्णवे नमः**'

यह मन्त्र उत्तम औषध है। इसका जप करनेसे देवता और असुर श्रीसम्पन्न तथा नीरोग हो गये थे—

ॐ ह्रूं नमो विष्णवे मन्त्रोऽयं चौषधं परम्॥
अनेन देवा ह्यसुराः सश्रियो नीरुजोऽभवन्।

(अग्नि० २८४। ३-४)

इसी प्रकार सर्वोत्तम औषध क्या हैं? इसके विषयमें वे कहते हैं—

सर्वरोगप्रशान्त्यै स्याद्विष्णोर्ध्यानं च पूजनम्॥

(अग्नि० २८०। ४८)

अर्थात् सब रोगोंकी शान्तिके लिये भगवान् विष्णुका ध्यान एवं पूजन सर्वोत्तम औषध है।

भगवान् व्यासदेव एक विलक्षण बात बतलाते हुए कहते हैं कि यदि मानव जगत्के सब प्राणियोंमें भगवदबुद्धि या आत्मबुद्धि या परमात्म-बुद्धिकी भावना करते हुए सबके उपकारका व्रत ले ले और सदैव धर्माचरण करे तो वह सदाके लिये रोगोंसे मुक्त हो जायगा और भवरोगसे भी छुटकारा प्राप्त कर लेगा। इसे उन्होंने महौषध (महान् औषध) बताया है—

'भूतानामुपकारश्च तथा धर्मो महौषधम्।'

(अग्नि० २८४। ४)

व्यासजीकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनका स्मरण करनेसे उनकी कृपाद्वारा उत्तम स्वास्थ्य एवं अखण्ड भक्ति—दोनों प्राप्त होती है, कलिका कोई प्रभाव नहीं होने पाता, ऐसे भगवान् व्यासको नमस्कार है—

व्यासं व्यासकरं वन्दे मुनिं नारायणं स्वयम्।
यतः प्राप्तकृपालोकाल्लोका मुक्ताः कलेर्ग्रहात्॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें आरोग्य-उक्ति

तनरोग, मनोरोग और भवरोगसे मुक्त रहना सच्चा आरोग्ययुक्त होना है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें 'युक्त' के ग्रहण और 'अति' के त्यागद्वारा तनरोगसे, आन्तरिक विकारोंके त्यागद्वारा मनोरोगसे और भगवच्छरणापन्न होकर भवरोगसे छुटकारा पानेकी युक्ति बतायी है।

जड़-चेतन सभीको नीरोगी होना जरूरी है। पौधे और वृक्ष भी यदि रुग्ण रहें तो शुद्ध फूल और फल नहीं हो सकते। इसलिये नीरोगिता सबके लिये अनिवार्य वस्तु है। चेतन प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ मनुष्यके लिये तो कहना ही नहीं है। व्याधिग्रस्त तन-मनवाले व्यक्तिसे कुछ नहीं बन सकता। स्वस्थ मन और नीरोग शरीरवाला मनुष्य ही मानव-जीवनके उद्देश्यको सफलतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। शरीरकी भी अपेक्षा मनका नीरोग रहना अत्यावश्यक है; क्योंकि शरीरकी व्याधि असाध्य होकर अन्तिम स्थितिमें पहुँचनेपर इस वर्तमान स्थूल शरीरका अन्त हो जाता है—

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(गीता २। २२)

अर्थात् जीर्ण हुए शरीरोंको त्यागकर जीवात्मा दूसरे नये शरीरोंमें चला जाता है।

जीर्ण शरीरसे जीव निकल जानेपर इस वर्तमान स्थूल शरीरसे तो छुटकारा मिल जाता है, पर मन व्याधिग्रस्त रहनेपर जन्म-जन्मान्तर बिगड़ जाता है। व्याधिग्रस्त मन जीवको अधोगतिमें ले जाता है, यह निश्चित है। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने नीरोग—ज्वररहित मनसे संतापरहित होकर कर्म करनेको कहा है—

युध्यस्व विगतज्वरः

(गीता ३। ३०)

व्यग्रता, आसक्ति, ममता, चिन्ता, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, अहंकार, असहिष्णुता, अधैर्य और दर्प आदि मनकी व्याधियाँ हैं। इनके वशीभूत होना मानसिक व्याधिग्रस्त होना है। इन्हीं व्याधियोंको भगवान् श्रीकृष्णने 'ज्वर' कहा है। जो इन व्याधियोंसे मुक्त रहता है यानी काम, क्रोधादिके वेगोंको सहन-दमन कर सकता है, वही व्यक्ति सुखी रह सकता है—वही योगी हो सकता है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

(गीता ५। २३)

इन व्याधियोंसे युक्त रहनेवाला मन ही मानवका शत्रु है और इनसे विपरीत यानी इनके वशमें न होकर स्वस्थ रहनेवाला मन ही मानवका मित्र है—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

(गीता ६। ६)

अर्थात् जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उसका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें वर्तता है।

ऐसे मित्ररूप मनका सहारा लेकर परमपदकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील रहना ही मनुष्यमात्रका कर्तव्य है—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(गीता १५।४)

उस (आसक्ति आदिसे रहित होने)-के पश्चात् उस परमपद (परमात्मा)-को ढूँढ़ना चाहिये, जिसमें पहुँच जानेपर (जिसको पा जानेपर) फिर लौटकर (संसारमें) नहीं आना पड़ता। मैं उन्हीं आदिपुरुषकी शरणमें पहुँचूँ, जिनसे अनादिकालसे चली आयी सृष्टि विस्तारको प्राप्त हुई है।

इस मानव-शरीरकी प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। चौरासी लाख योनियोंमें भटकनेके बाद भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे यह योनि मिल पाती है। ऐसी पवित्र और दुर्लभ योनिको पाकर भी इन्द्रियोंके भोगोंमें ही सुख मानकर आयुको गँवाना बुद्धिमानी नहीं है। भगवान् श्रीराम अपने प्रजाजनोंको सम्बोधित करते हैं—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहिं मिथ्या दोस लगाइ॥
एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ विषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

× × ×

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। ……………………………॥

(रा०च०मा० ७।४३।७-८, ४३; ४४।१-२, ४—७)

अज्ञानवश आसक्त होकर जीव जबतक कर्म करता रहेगा, तबतक विषयोंमें उसकी लिप्सा रहेगी। लिप्साके कारण वह कर्म करेगा और उससे शुभ तथा अशुभ कर्म बनता रहेगा। इन्द्रियोंके अधोगामी होनेके कारण उनसे प्रायः अशुभ कर्म यानी अधर्म ही बनते हैं। अधर्मका फल बुरा ही होता है। जब वे कर्मके फलस्वरूप अनेक कष्ट भोगते हैं, तब वे ईश्वरको दोषी मानकर चिल्लाते—रोते रहते हैं और कहते हैं—ईश्वरने मुझे ऐसा कष्ट दिया। वे अपने दूषित कर्मोंके फलस्वरूप भोगनेको मिला हुआ दुःख नहीं मानते। यदि उनसे कुछ पुण्य हो भी गया तो भी उस पुण्यके प्रभावसे जो स्वर्गादि भोग या इस लोकमें ऐश्वर्य अथवा इच्छित वस्तुकी प्राप्ति हो भी जाय तो वह सुख-भोग सदा रहनेवाला नहीं होगा और भोग भोगते-भोगते बीती आयुकी सुध भी नहीं रहेगी। परिणाम यह होता है कि उस भोगसे उसे तृप्ति भी नहीं होती। महाराज ययाति हजारों-हजार वर्षोंतक सशक्त इन्द्रियोंसे सुख भोगते रहे, पर उस भोगसे उनकी तृप्ति नहीं हो सकी और उन भोगोंसे ऊबकर उन्होंने अन्तमें कहा—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयान् सेवतोऽसकृत्।
तथापि चानुसवनं तृष्णा तेषूपजायते॥

(श्रीमद्भा० ९।१९।१३-१४, १८)

अर्थात् पृथ्वीमें जितने भी धन-धान्य, (हाथी, घोड़े और गाय आदि) पशु और स्त्रियाँ आदि वस्तुएँ हैं, कोई भी उस पुरुषके मनको तृप्त नहीं कर सकता, जिसका मन कामवासनासे हरण हो चुका हो। विषयानुरागियोंकी कामनाएँ भोगोंके भोगनेसे कभी शान्त नहीं हो सकतीं। जैसे प्रज्वलित अग्निमें घी डालनेसे आग नहीं बुझती, वरन् और अधिक भभक उठती है। पूरे एक हजार वर्ष विषयोंको भोगते-भोगते मैंने बिताया, इतनेपर भी मेरी तृप्ति होना तो दूर भोग भोगनेकी तृष्णा बढ़ती ही जा रही है।

इस प्रकार क्षणिक सुख एवं दीर्घ दुःखसे होनेवाली मनकी हर्ष और विषादकी दशा बने रहना ही मानसिक व्याधि है। इस व्याधिको मिटानेकी औषधि है—धैर्य और

श्रद्धाको अपनाते हुए विषयोंकी अनित्यता तथा दुःखरूपताको[1] समझते हुए भगवान्की शरणमें जाना—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥[2]

(गीता ९। ३३)

भगवान्को सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर, सम्पूर्ण यज्ञ और तपस्याओंका स्वामी, सभी प्राणियोंका अहैतुकी स्नेहदाता समझकर मनको उन्हींकी ओर लगानेका प्रयास करते रहना चाहिये—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(गीता ५। २९)

हमारा मन जितना-जितना परमात्माकी ओर झुकता जायगा, उतनी-उतनी मनमें शान्ति आती जायगी। जहाँ शान्ति आयी, मन प्रसन्न हो जायगा। प्रसन्नता आनेपर मनका उद्वेग मिट जाता है। मनका उद्वेग मिटना ही दुःखोंकी परिसमाप्ति है—'**प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते**' (गीता २। ६५)। दुःखका अन्त होना ही आरोग्यकी सच्ची प्राप्ति है। इस तरहकी आरोग्यता प्राप्त करना ही मानव-जीवनका पुरुषार्थ है।

इस आन्तरिक आरोग्यकी प्राप्तिके लिये स्थूल शरीरका स्वस्थ रहना जरूरी है। शारीरिक रोगजनित कष्टके रहते साधनमें सधैर्य जुटे रह सकनेकी शक्ति किसी बिरले संतमें ही हो सकती है। इसलिये कहा है—

'**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**' यानी शारीरिक स्वस्थताके लिये जीवन संयमी होना चाहिये। कोई असंयमी व्यक्ति नीरोगतारूपी सिद्धि नहीं पा सकता—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६। १६-१७)

'अधिक खानेवाला या बिलकुल कम खानेवाला, अधिक सोनेवाला या अधिक जागनेवाला व्यक्ति (मनको वशमें करनेवाली सिद्धिरूप-) योगको नहीं पा सकता। इस दुःखको मिटानेवाले योगको तो ठीक-ठीक खाने-सोनेवाला, ठीक-ठीक कर्म करनेवाला और उचित मात्रामें चलने-फिरनेवाला व्यक्ति ही सिद्ध कर सकता है।'

जीभको मीठी लगनेवाली वस्तु मिली, ठूँस-ठूँसकर खाया; मनोवाञ्छित चीज न मिली, दिनभर भूखे रहा; सिनेमा-नाटक देखने गया, रात-रातभर जागता रहा; कभी आलसमें दस-दस घंटे सोता रहा—ऐसा व्यक्ति कभी मनकी शान्ति—नीरोगत्व पानेके साधनमें सिद्ध नहीं हो सकता। शरीरके साथ मनके आरोग्य-लाभके इच्छुकको तो खान-पान, सोने-जागने और काम करनेमें संयमसे रहना जरूरी है। प्रकृतिके अनुकूल नपा-तुला और (न्यायपूर्वक उपार्जित) शुद्ध भोजनसे शरीर स्वस्थ तथा बुद्धि निर्मल होती है—'**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**' (छान्दोग्य० ७। २६। २)। स्वस्थ शरीरके लिये उपर्युक्त सावधानीके साथ-साथ चलना-फिरना तथा टहलना भी आवश्यक है। टहलनेके अतिरिक्त व्यायाम भी कर सकते हैं। पर व्यायाम भी सोच-समझकर पूरी जानकारी प्राप्त करके ही करना चाहिये, जो शरीरके उपयुक्त और अनुकूल हो। इससे अधिक और बिना जानकारीके किये गये व्यायामसे लाभकी जगह हानि हो सकती है। कहावत भी है—***'देखादेखी साधै जोग, छीजै काया बाढ़ै रोग।'***

आहारके विषयमें भगवान् श्रीकृष्णने 'अश्नतः' और 'आहारः'—ये दो शब्द कहे हैं। आहार वह वस्तु है, जिसे ग्रहण करनेसे मन-प्राण और शरीर चल पाते हैं। अब यह जान लेना आवश्यक है कि वह आहार क्या है और कौन वस्तु किसको अच्छी लगती है, उसे प्रयोग करनेवालेकी प्रकृति कैसी है तथा उसके प्रयोगसे कैसा फल मिलता है? इस विषयको भगवान्ने गीताके सत्रहवें अध्यायमें स्पष्ट किया है। सृष्टि त्रिगुणात्मिका होनेसे आहारको उपभोगमें लानेवाले भी तीन प्रकारके होते हैं—सत्त्व, रज और तमोगुणी स्वभाववाले। अपनी-अपनी प्रकृति (स्वभाव)-के अनुसार ही मानवोंको आहार अच्छा लगता है और उन

---

१. ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ (गीता ५। २२)

इन्द्रियोंका विषयोंके साथ मेल हो जानेपर जो सुख भासते हैं, वे दुःखके ही कारण हैं। दीखनेवाला अनित्य है। ज्ञानीजन उनमें लिप्त नहीं होते।

२. अनित्य (सदा न रहनेवाला) तथा सुखसे रहित इस लोकको पाकर मेरा (परमात्मप्रभुका) भजन करो।

वस्तुओंके सेवनके परिणाम भी अलग-अलग होते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

आयु:सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दु:खशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(८—१०)

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, स्निग्ध (चिकने) एवं मनको स्वभावसे ही प्रिय लगनेवाले तथा स्थायी—चिर (अधिक कालतक) प्रभाववाले भोजन सात्त्विक स्वभाववालोंको रुचिकर लगते हैं।

अति कड़ुवा (तिक्त और चरपरा), खट्टा, नमकीन, अत्यधिक उष्ण, तीखा, रूखा, दाहकारक, दु:ख-पीडा और रोग पैदा करनेवाला भोजन राजसी है। ऐसा भोजन राजसी स्वभाववालोंको अच्छा लगता है।

अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और जूठन (खानेसे बचा हुआ) आहार तामसी होता है, तामसी स्वभाववालोंको ऐसा भोजन अच्छा लगता है।

इस प्रकार गीतोक्त युक्त आहार-विहार आदिके सेवनसे तथा मानसिक कटुताका त्याग कर भगवच्छरणका अवलम्ब लेकर चला जाय तो तनरोग, मनोरोग और भवरोग सदाके लिये समाप्त हो जायँगे तथा शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक आरोग्य सदा बना रहेगा।

[श्रीनारायणप्रसादजी श्रेष्ठ]

गोस्वामी तुलसीदासजीकी आरोग्य-साधना

पुरुषार्थचतुष्टयकी प्राप्ति मानव-जीवनका लक्ष्य है और उसकी प्राप्तिका माध्यम है—स्वस्थ शरीर। यथा—'**धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्**' (च०सं०सू० १।१५)। स्वस्थ शरीर ही साधन-भजन, चिन्तन-मनन, निदिध्यासन आदि करनेमें समर्थ होता है। इसीलिये सद्ग्रन्थोंमें स्वस्थ जीवनकी चर्चा प्राय: किसी-न-किसी रूपमें मिल जाती है। तुलसी-साहित्यमें भी यह चर्चा यथास्थान उपलब्ध है। शरीर और मन दोनोंके स्वस्थ रहनेकी अपेक्षा है, इसीलिये तुलसीरचित काव्योंमें दोनोंकी चर्चा यथास्थान संनिहित है। धर्म-साधनके लिये शरीरकी अनिवार्य आवश्यकता है—

'**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।**'

शरीर विकारग्रस्त होता रहता है। इससे यह क्षीण और दुर्बल हो जाता है। यह विकार मिथ्या आहार-विहारजनित है। शरीरके क्षीण होनेसे आनन्दकी स्थिति बिगड़ जाती है और तब मनुष्य आनन्द खोकर कष्टका अनुभव करता है। इन सारी बातोंका विशद विवेचन तुलसी-साहित्यमें यथास्थान उपलब्ध है। सर्वप्रथम हम शरीरके आरोग्यकी बात सोचें। इस शरीर-रोगके तीन भेद बताये गये हैं—दैहिक, दैविक और भौतिक। दैहिक रोगका सम्बन्ध व्रण तथा ज्वर आदिसे है। दैविकका सम्बन्ध किसी देवताके कोपजनित शापादिसे है। इसके निराकरणके उपाय भी बताये गये हैं। तुलसीदासजी स्वयं एक बार बाहु-पीडासे ग्रस्त हो गये थे। अपनी रचना हनुमानबाहुकमें उन्होंने इस पीडाका बड़ा ही सजीव चित्रण किया है—

पायँपीर पेटपीर बाँहपीर मुँहपीर,
जरजर सकल सरीर पीरमई है।

(हनुमानबाहुक ३८)

इस रोगके निवारणके लिये उन्होंने हनुमान्‌जीसे प्रार्थना की। उनके विश्वासके अनुसार यह रोग इन्हीं कारणोंसे हुआ है—

आपने ही पापतें त्रितापतें कि सापतें,
बढ़ी है बाँहबेदन कही न सहि जाति है।

(हनुमानबाहुक ३०)

इसके निवारणार्थ अनेक उपचार किये गये—

औषध अनेक जंत्र-मंत्र-टोटकादि किये,
बादि भये देवता मनाये अधिकाति है॥

(हनुमानबाहुक ३०)

सबसे हार मानकर अन्तमें उन्होंने हनुमान्‌जीकी शरण

ली और कहा—

बाँह पीर महाबीर बेगि ही निवारिये॥

(हनुमानबाहुक २०)

फिर उन्होंने अपने इष्ट श्रीरामसे यही विनय की—

बाँहकी बेदन बाँहपगार
पुकारत आरत आनँद भूलो।
श्रीरघुबीर निवारिये पीर
रहौं दरबार परो लटि लूलो॥

(हनुमानबाहुक ३६)

इस रोगका कोई निराकरण न देख क्षुब्ध होकर उन्होंने मान लिया कि यह इस जन्मके या विगत जन्मके किसी अपराधका फल है और यह कर्म-फल भोगना ही है—

तुम्हतें कहा न होय हाहा सो बुझैये मोहि,
हौं हूँ रहों मौन ही बयो सो जानि लुनिये॥

(हनुमानबाहुक ४४)

प्राय: छोटे-छोटे बच्चोंको जब किसीकी भी नजर लग जाती है और वे अत्यन्त कष्टमें हो जाते हैं, तब न तो माँका दूध लेते हैं और न ही चैनसे रह पाते हैं। उनकी शान्तिके लिये मन्त्रोंका प्रयोग और टोटकाका भी प्रयोग किया जाता है। गीतावलीमें भगवान् रामकी यही दशा हो गयी है। इसके निवारणके लिये गुरु वसिष्ठजी आते हैं। उस समय भी बालक रामकी वही अवस्था रहती है—

आजु अनरसे हैं भोरके, पय पियत न नीके।
रहत न बैठे, ठाढ़े, पालने झुलावत हू, रोवत राम मेरो
सो सोच सबहीके॥

× × ×

बेगि बोलि कुलगुर, छुऔ माथे हाथ अमीके।
सुनत आइ ऋषि कुस हरे नरसिंह मंत्र पढ़े, जो
जो सुमिरत भय भीके॥

(गीता० बालकाण्ड १२)

आरोग्य रहनेके लिये तुलसी-काव्यमें आहार और विहारपर विशेष विचार किया गया है। आहार-विहारकी उपेक्षा शारीरिक रोगके कारण हैं। भोजन क्या और कितना करना चाहिये, इसके सम्बन्धमें यह द्रष्टव्य है—

भोजन करिअ तृपिति हित लागी। जिमि सो असन पचवै जठरागी॥

(रा०च०मा० ७। ११९। ९)

भोजन केवल स्वादके लिये नहीं, प्रत्युत आरोग्य-वृद्धिके लिये ही होना चाहिये।

सरुज सरीर बादि बहु भोगा।

(रा०च०मा० २। १७८। ५)

प्रभुका अवतार पथभ्रष्ट लोगोंको सन्मार्गपर लानेके लिये ही होता है। अपने इष्ट रामके जीवनमें तुलसीदासजीने सदाचार और आरोग्यकी वृद्धि करनेवाले व्यवहारोंका दिग्दर्शन कराया है, जिनका अनुसरण कर हम सच्चरित्र एवं नीरोग रह सकते हैं। श्रीरामके उठने-बैठने, खाने-पीने तथा खेलने आदिके सम्बन्धमें चर्चा करके तुलसीदासजीने प्रेरणा लेनेकी बात बतायी है। कितना उदात्त चरित्र है भगवान् श्रीरामका! यथासमय सोने, जागने और नित्यक्रियासे निवृत्त होनेका कितना अच्छा वर्णन मानसमें मिलता है! भोजनके बाद गुरुसेवा और तब शयन। पहले गुरु सोते हैं, फिर राम; और राम लक्ष्मणसे सोनेके लिये कहते हैं। साँझ होती है, दोनों भाई संध्या-वन्दनके लिये चले जाते हैं—

निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा। सबहीं संध्याबंदनु कीन्हा॥
कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥
मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई॥
बार बार मुनि अग्या दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥

(रा०च०मा० १। २२६। १—३, ६)

पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता।

(रा०च०मा० १। २२६। ८)

जगनेका भी यही क्रम है।

उठे लखनु निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान।
गुर तें पहिलेहिं जगतपति जागे रामु सुजान॥

(रा०च०मा० १। २२६)

और तब—

सकल सौच करि जाइ नहाए।

(रा०च०मा० १। २२७। १)

—ये हैं स्वास्थ्यके नियम। इनका पालन करनेसे आरोग्य-लाभ होता है। इस प्रकारके अनेक उदाहरण

तुलसीकाव्यमें उपलब्ध हैं, जिनका अनुसरण आरोग्यदायक है। शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये संयम आवश्यक है और रोगग्रस्त होनेपर उपयुक्त औषध भी। उपचारकी भी आवश्यकता कम नहीं है। लक्ष्मणको जब शक्तिबाण लगा था और उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी तब हनुमान्‌जी श्रीरामकी आज्ञासे वैद्यको बुला लाये और ओषधि लायी गयी। इस कथाका उल्लेख मानसमें है।

तुलसीदासजीने पापको रोगोंकी जड़ माना है। कृतघ्नताको सबसे बड़ा पाप कहा है। ये पाप रोगके रूपमें प्रकट होते हैं—

तुलसी अनाथ सो सनाथ रघुनाथ कियो,
दियो फल सीलसिंधु आपने सुभायको॥
नीच यहि बीच पति पाइ भरुहाइगो,
बिहाइ प्रभु-भजन बचन मन कायको।
तातें तनु पोषियत घोर बरतोर मिस,
फूटि फूटि निकसत लोन रामरायको॥

(हनुमानबाहुक ४१)

मानस-रोगकी चर्चा काकभुशुण्डि-गरुड-प्रसंगमें मिलती है। भुशुण्डिने गरुडके पूछनेपर कहा था—

मानस रोग कहहु समुझाई। तुम्ह सर्बग्य कृपा अधिकाई॥

(रा०च०मा० ७। १२१। ७)

इस क्रममें भुशुण्डिजीने कुछ मानस-रोगोंका उल्लेख किया है, वे हैं—काम, लोभ, क्रोध, मनोरथ, ममता, दुष्टता, अहंकार, तृष्णा, मत्सर आदि। जिन्हें ये रोग लगते हैं, उनकी दशा खिन्न-सी हो जाती है। मोह तो सम्पूर्ण व्याधियोंकी जड़ है—

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई॥

(रा०च०मा० ७। १२१। २८—३१)

विषय तथा मनोरथ आदि अनेक रोग हैं, इनका वर्णन कहाँतक किया जाय? मनुष्यके मरनेके लिये एक ही व्याधि पर्याप्त है और जिनके पास इतनी व्याधियाँ हैं, उनका क्या कहना?

एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि॥

(रा०च०मा० ७। १२१ क)

इस संदर्भमें एक और प्रसंग उल्लेखनीय है और वह है—रामवनगमनके बाद भरतजीके राज्याभिषेकसे सम्बन्धित विचारका। भरतजी शोकाकुल हैं। गुरु, माता, मन्त्री, प्रजा और पुरजन—सभीकी राय इन्हें राजतिलक देनेकी है। इतनी बड़ी सभाको भरतजी क्या उत्तर दें—यह सोचकर उनका मन उद्विग्न हो रहा है। भरतजी चिन्ताकुल हो रहे हैं।

माता कौसल्याने स्पष्ट कर दिया है—

'गुर बिबेक सागर जगु जाना।'

(रा०च०मा० २। १८२। १)

और इसलिये—

'पूत पथ्य गुर आयसु अहई॥'

(रा०च०मा० २। १७६। १)

परंतु भरतजीके मनको परितोष नहीं है। उनका हृदय दग्ध हो रहा है—

एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सिय रामु दुखारी॥

(रा०च०मा० २। १८२। ६)

और इसी कारण वे रामका दर्शन चाहते हैं। उनका विश्वास है—

देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥

(रा०च०मा० २। १८२)

और इस प्रकार चित्रकूटमें जाकर रामके दर्शनसे श्रीभरतको संतोष मिलता है, परितोष होता है और बहुत हदतक इस मानस-रोगकी निवृत्ति हो जाती है। अतः भगवत्-शरण एक ऐसी ओषधि है, जो हर प्रकारके शारीरिक और मानसिक रोगोंसे मनुष्यको छुटकारा दिला सकती है।

[डॉ० श्रीशुकदेवजी राय एम्०ए०, पी-एच्०डी, साहित्यरत्न]

आयुर्वेदकी आचार्य-परम्परा और आरोग्य-साधना *

समस्त मङ्गलोंके भी मङ्गलकारी बीजस्वरूप सनातन परमेश्वरने मङ्गलके आधारभूत चार वेदोंको प्रकट किया। उनके नाम हैं—ऋक्, यजु, साम और अथर्व। उन वेदोंको देखकर और उनके अर्थका विचार करके प्रजापतिने आयुर्वेदका संकलन किया। इस प्रकार पञ्चम वेदका निर्माण करके भगवान्ने उसे सूर्यदेवके हाथमें दे दिया। उससे सूर्यदेवने एक स्वतन्त्र संहिता बनायी। फिर उन्होंने अपने शिष्योंको अपनी वह 'आयुर्वेदसंहिता' दी और पढ़ायी। तत्पश्चात् उन शिष्योंने भी अनेक संहिताओंका निर्माण किया। उन विद्वानोंके नाम और उनके द्वारा रचे हुए तन्त्रोंके नाम, जो रोगनाशके बीजरूप हैं इस प्रकार है—

धन्वन्तरि, काशिराज, दिवोदास, दोनों अश्विनीकुमार, नकुल, सहदेव, सूर्यपुत्र यम, च्यवन, जनक, बुध, जाबाल, जाजलि, पैल, करथ और अगस्त्य।

ये सभी विद्वान् वेद-वेदाङ्गोंके ज्ञाता तथा रोगोंके नाशक (वैद्य) हैं। सबसे पहले भगवान् धन्वन्तरिने '**चिकित्सा-तत्त्वविज्ञान**' नामक एक मनोहर तन्त्रका निर्माण किया। काशिराजने '**दिव्य चिकित्सा-कौमुदी**' का प्रणयन किया। दिवोदासने '**चिकित्सा-दर्पण**' नामक ग्रन्थ रचा। दोनों अश्विनीकुमारोंने '**चिकित्सा-सारतन्त्र**'की रचना की, जो भ्रमका निवारण करनेवाला है। नकुलने '**वैद्यकसर्वस्व**' नामक तन्त्र तथा सहदेवने '**व्याधिसिन्धुविमर्दन**' नामक ग्रन्थ तैयार किया। यमराजने '**ज्ञानार्णव**' नामक महातन्त्रकी रचना की और भगवान् च्यवन मुनिने '**जीवदान**' नामक ग्रन्थ निर्मित किया। योगी जनकने '**वैद्यसंदेहभञ्जन**' नामक ग्रन्थ लिखा। चन्द्रकुमार बुधने '**सर्वसार**', जाबालने '**तन्त्रसार**' और जाजलि मुनिने '**वेदाङ्ग-सार**' नामक तन्त्रकी रचना की। पैलने '**निदान-तन्त्र**', करथने उत्तम '**सर्वधर-तन्त्र**' तथा अगस्त्यजीने '**द्वैधनिर्णय**' तन्त्रका निर्माण किया।

ये सोलह तन्त्र चिकित्सा-शास्त्रके बीज हैं, रोग-नाशके कारण हैं तथा शरीरमें बलका आधान करनेवाले हैं। आयुर्वेदके समुद्रको ज्ञानरूपी मथानीसे मथकर विद्वानोंने उससे नवनीत-स्वरूप ये तन्त्र-ग्रन्थ प्रकट किये हैं। आयुर्वेदके अनुसार रोगोंका परिज्ञान करके वेदनाको रोक देना—इतना ही वैद्यका वैद्यत्व है। वैद्य आयुका स्वामी नहीं है—वह उसे घटा अथवा बढ़ा नहीं सकता। चिकित्सक आयुर्वेदका ज्ञाता, चिकित्साकी क्रियाको यथार्थरूपसे जाननेवाला धर्मनिष्ठ और दयालु होता है; इसलिये उसे 'वैद्य' कहा गया है।

दारुण ज्वर समस्त रोगोंका जनक है। उसे रोकना कठिन होता है। वह शिवका भक्त और योगी है। उसका स्वभाव निष्ठुर और आकृति विकृत (विकराल) है। उसके तीन पैर, तीन सिर, छः हाथ और नौ नेत्र हैं। वह भयंकर ज्वर काल, अन्तक और यमके समान विनाशकारी है। भस्म ही उसका अस्त्र है तथा रुद्र उसके देवता हैं। मन्दाग्नि उसका जनक है। मन्दाग्निके जनक तीन हैं—वात, पित्त और कफ। ये ही प्राणियोंको दुःख देनेवाले हैं। वातज, पित्तज और कफज—ये ज्वरके तीन भेद हैं। एक चौथा ज्वर भी होता है, जिसे त्रिदोषज भी कहते हैं। पाण्डु, कामल, कुष्ठ, शोथ, प्लीहा, शूलक, ज्वर, अतिसार, संग्रहणी, खाँसी, व्रण (फोड़ा), हलीमक, मूत्रकृच्छ्र, रक्तविकार या रक्तदोषसे उत्पन्न होनेवाला गुल्म, विषमेह, कुब्ज, गोद, गलगण्ड (घेघा), भ्रमरी, संनिपात, विषूचिका (हैजा) और दारुणी आदि अनेक रोग हैं। इन्हींके भेद और प्रभेदोंको लेकर चौंसठ रोग माने गये हैं। ये चौंसठ रोग मृत्युकन्याके पुत्र हैं और जरा उसकी पुत्री है। जरा अपने भाइयोंके साथ सदा भूतलपर भ्रमण किया करती है।

नीरोग कौन रहता है? तथा किसे वृद्धावस्था नहीं आती?

रोग उस मनुष्यके पास नहीं जाते, जो इनके

* ब्रह्मवैवर्तपुराणमें वैद्यकसंहिताका वर्णन, आयुर्वेदकी आचार्य-परम्परा, उसके प्रमुख सोलह विद्वानों तथा उनके द्वारा रचित प्रमुख तन्त्रोंके नामका निर्देशन, ज्वर आदि चौंसठ रोग, उनके हेतुभूत वात, पित्त तथा कफकी उत्पत्तिके कारण और उनके निवारणके उपायोंका विवेचन हुआ है, जो यहाँ प्रस्तुत है।

निवारणका उपाय जानता है और संयमसे रहता है। उसे देखकर रोग उसी तरह भागते हैं, जैसे गरुड़को देखकर साँप। नेत्रोंको जलसे धोना, प्रतिदिन व्यायाम करना, पैरोंके तलवोंमें तेल मलना, दोनों कानोंमें तेल डालना और मस्तकपर भी तेल रखना—यह प्रयोग जरा और व्याधिका नाश करनेवाला है। जो वसन्त-ऋतुमें भ्रमण, स्वल्पमात्रामें अग्निसेवन तथा नयी अवस्थावाली भार्याका यथासमय उपभोग करता है, उसके पास जरा अवस्था नहीं जाती। ग्रीष्म-ऋतुमें जो तालाब या पोखरेके शीतल जलमें स्नान करता, घिसा हुआ चन्दन लगाता और वायुसेवन करता है, उसके निकट जरा अवस्था नहीं जाती। वर्षा-ऋतुमें जो गरम जलसे नहाता, वर्षाके जलका सेवन नहीं करता और ठीक समयपर परिमित भोजन करता है, उसे वृद्धावस्था नहीं प्राप्त होती। जो शरद्-ऋतुकी प्रचण्ड धूपका सेवन नहीं करता, उसमें घूमना-फिरना छोड़ देता है तथा कुएँ, बावड़ी या तालाबके जलमें नहाता है और परिमित भोजन करता है, उसके पास वृद्धावस्था नहीं फटक पाती। जो हेमन्त-ऋतुमें प्रात:काल अथवा पोखरे आदिके जलमें स्नान करता, यथासमय आग तापता, तुरंतकी तैयार की हुई गरम-गरम रसोई खाता है, उसके पास जरा-अवस्था नहीं जाती। जो शिशिर-ऋतुमें गरम कपड़े, प्रज्वलित अग्नि और नये बने हुए गरम-गरम अन्नका सेवन करता है तथा गरम जलसे ही स्नान करता है, उसके समीप वृद्धावस्थाकी पहुँच नहीं हो पाती।

जो तुरंतके बने हुए ताजे अन्नका, खीर और घृतका उचित सेवन करता है, वृद्धावस्था उसके निकट नहीं जाती। जो भूख लगनेपर ही उत्तम अन्न खाता तथा प्यास लगनेपर ठंडा जल पीता है, उसके पास वृद्धावस्था नहीं पहुँच पाती। जो प्रतिदिन दही, ताजा मक्खन और गुड़ खाता तथा संयमसे रहता है, उसके समीप जरावस्था नहीं जा पाती।

जो मांस, वृद्धा स्त्री, नवोदित सूर्य तथा तरुण दधि (पाँच दिनके रखे हुए दही)-का सेवन करता है, उसपर जरावस्था अपने भाइयोंके साथ हर्षपूर्वक आक्रमण करती है। जो रातको दही खाते हैं, कुलटा एवं रजस्वला स्त्रीका सेवन करते हैं, उनके पास भाइयोंसहित जरावस्था बड़े हर्षके साथ आती है। रजस्वला, कुलटा, विधवा, जारदूती, शूद्रके पुरोहितकी पत्नी तथा ऋतुहीना जो स्त्रियाँ हैं, उनका अन्न ग्रहण करनेवाले लोगोंको बड़ा पाप लगता है। उस पापके साथ ही जरावस्था उनके पास आती है। रोगोंके साथ पापोंकी सदा अटूट मैत्री होती है। पाप ही रोग, वृद्धावस्था तथा नाना प्रकारके विघ्नोंका बीज है। पापसे रोग होता है, पापसे बुढ़ापा आता है और पापसे ही दैन्य, दु:ख एवं भयंकर शोककी उत्पत्ति होती है। वह महान् वैर उत्पन्न करनेवाला, दोषोंका बीज और अमङ्गलकारी होता है। इसलिये भारतके संत पुरुष सदा भयातुर हो कभी पापका आचरण नहीं करते—

पापेन जायते व्याधिः पापेन जायते जरा।
पापेन जायते दैन्यं दु:खं शोको भयङ्करः॥
तस्मात् पापं महावैरं दोषबीजममङ्गलम्।
भारते संततं सन्तो नाचरन्ति भयातुराः॥

(ब्रह्मखण्ड १६।५१-५२)

जो अपने धर्मके आचरणमें लगा हुआ है, भगवान्के मन्त्रकी दीक्षा ले चुका है, श्रीहरिकी समाराधनामें संलग्न है, गुरु, देवता और अतिथियोंका भक्त है, तपस्यामें आसक्त है, व्रत और उपवासमें लगा रहता है और सदा तीर्थसेवन करता है, ऐसे पुरुषोंके पास जरा-अवस्था नहीं जाती है और न दुर्जय रोगसमूह ही उसपर आक्रमण करते हैं।

त्रिदोष

वात, पित्त और कफ—ये तीन ज्वरके जनक हैं। जब भूखकी आग प्रज्वलित हो रही हो और उस समय आहार न मिले तो प्राणियोंके शरीरमें मणिपूरक[1] चक्रमें पित्तका प्रकोप होता है। ताड़ और बेलका फल खाकर तत्काल जल पी लिया जाय तो वही सद्य: प्राणनाशक पित्त हो जाता है। जो दैवका मारा हुआ पुरुष शरद्-ऋतुमें गरम पानी पीता और भाद्रपदमासमें तिक्त भोजन करता है,

१-तन्त्रके अनुसार छ: चक्रोंमेंसे तीसरा चक्र, जिसकी स्थिति नाभिके पास मानी जाती है। यह तेजोमय और विद्युत्के समान आभावाला है। इसका रंग नीला है। इसमें दस दल होते हैं और उन दलोंपर 'ड' से लेकर 'फ' तकके अक्षर अङ्कित हैं। वह चक्र शिवका निवासस्थान माना जाता है। उसपर ध्यान लगानेसे सब विषयोंका ज्ञान हो जाता है।

उसका पित्त बढ़ जाता है। धनिया पीसकर उसे शक्करके साथ ठंडे जलमें घोल दिया जाय तो उसको पीनेसे पित्तकी शान्ति होती है। चना, सब प्रकारका गव्य पदार्थ, तक्ररहित दही, पके हुए बेल और ताड़के फल, ईखके रससे बनी हुई सब वस्तुएँ, अदरक, मूँगकी दालका जूस तथा शर्करामिश्रित तिलका चूर्ण—ये सब पित्तका नाश करनेवाली ओषधियाँ हैं, जो तत्काल बल और पुष्टि प्रदान करती हैं। भोजनके बाद तुरंत स्नान करना, बिना प्यासके जल पीना, सारे शरीरमें तिलका तेल मलना, स्निग्ध तैल तथा स्निग्ध आँवलेके द्रवका सेवन, बासी अन्नका भोजन, तक्रपान, केलेका पका हुआ फल, दही, वर्षाका जल, शक्करका शर्बत, अत्यन्त चिकनाईसे युक्त जलका सेवन, नारियलका जल, बासी पानीसे रूखा स्नान (बिना तेल लगाये नहाना), तरबूजके पके फल खाना, ककड़ीके अधिक पके हुए फलका सेवन करना, वर्षा-ऋतुमें तालाबमें नहाना और मूली खाना—इन सबसे कफकी वृद्धि होती है। वह कफ ब्रह्मरन्ध्रमें उत्पन्न होता है, जो महान् वीर्यनाशक माना गया है। आग तापकर शरीरसे पसीना निकालना, पकाये हुए तेल-विशेषको काममें लाना, घूमना, सूखे पदार्थ खाना, सूखी पकी हर्रेका सेवन करना, कच्चा पिण्डारक[1] (पिण्डारा), कच्चा केला, बेसवार (पीसा हुआ जीरा, मिर्च, लौंग आदि मसाला), सिन्धुवार (सिन्दुवार या निर्गुण्डी), अनाहार (उपवास), अपानक (पानी न पीना), घृतमिश्रित रोचना-चूर्ण, घी मिलाया हुआ सूखा शक्कर, काली मिर्च, पिप्पल, सूखा अदरक, जीवक[2] (अष्टवर्गान्तर्गत औषध-विशेष) तथा मधु—ये द्रव्य तत्काल कफको दूर करनेवाले तथा बल और पुष्टि देनेवाले हैं।

भोजनके बाद तुरंत पैदल यात्रा करना और दौड़ना तथा आग तापना, सदा घूमना और मैथुन करना, वृद्धा स्त्रीके साथ सहवास करना, मनमें निरन्तर संताप रहना, अत्यन्त रूखा खाना, उपवास करना, किसीके साथ जूझना, कलह करना, कटु वचन बोलना, भय और शोकसे अभिभूत होना—ये सब केवल वायुकी उत्पत्तिके कारण हैं। आज्ञा नामक चक्रमें वायुकी उत्पत्ति होती है।

केलेका पका हुआ फल, बिजौरा नीबूके फलके साथ चीनीका शर्बत, नारियलका जल, तुरंतका तैयार किया हुआ तक्र, उत्तम पिट्ठी (पूआ, कचौरी आदि), भैंसका केवल मीठा दही या उसमें शक्कर मिला हो, तुरंतका बासी अन्न, सौवीर (जौकी काँजी), ठंडा पानी, पकाया हुआ तेल-विशेष अथवा केवल तिलका तेल, नारियल, ताड़, खजूर, आँवलेका बना हुआ उष्ण द्रव-पदार्थ, ठंडे और गरम जलका स्नान, सुस्निग्ध चन्दनका द्रव, चिकने कमलपत्रकी शय्या और स्निग्ध व्यञ्जन—ये सब वस्तुएँ तत्काल ही वायुदोषका नाश करनेवाली हैं। (ब्रह्मवैवर्तपुराण)

भगवन्नाम-संकीर्तनसे वास्तविक आरोग्यकी प्राप्ति

आत्यन्तिकं व्याधिहरं जनानां चिकित्सिकं वेदविदो वदन्ति।
संसारतापत्रयनाशबीजं गोविन्द दामोदर माधवेति॥

वेदवेत्ताओंका कहना है कि गोविन्द, दामोदर और माधव—ये नाम मनुष्योंके समस्त रोगोंको समूल उन्मूलन करनेवाले भेषज हैं और संसारके (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—इन) त्रिविध तापोंका नाश करनेके लिये बीजमन्त्रके समान हैं।

---

१. एक प्रकारका फल-शाक।

२. एक जड़ीका पौधा। 'भावप्रकाश' के अनुसार यह पौधा हिमालयके शिखरोंपर होता है। इसका कन्द लहसुनके कन्दके समान और इसकी पत्तियाँ महीन सारहीन होती हैं। इसकी टहनियोंमें बारीक काँटे होते हैं और दूध निकलता है। यह अष्टवर्ग औषधके अन्तर्गत है और इसका कन्द मधुर, बलकारक तथा कामोद्दीपक होता है। ऋषभ और जीवक दोनों एक ही जातिके गुल्म हैं, भेद केवल इतना ही है कि ऋषभकी आकृति बैलके सींगकी तरह होती है और जीवककी झाड़ूकी-सी।

स्वस्थ रहनेके लिये संकल्पबलकी आवश्यकता

(ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

संकल्प, विचार या भावनाका महत्त्व संसारके सभी विद्वानोंको मान्य है। संसारके सभी बलोंसे संकल्पका बल श्रेष्ठ है। वेदादि शास्त्रोंका तो कहना है कि परमात्माके संकल्पसे ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड बनकर तैयार होता है। वैसे तो किसी भी कार्यके मूलमें संकल्प होना आवश्यक है। स्थूल-सूक्ष्म किसी प्रकारका संकल्प-विचार हुए बिना कोई भी कार्य नहीं हो सकता। देह, इन्द्रिय आदि किसीकी भी हलचलमें मनकी हलचल आवश्यक है। अतएव यह भी कहा जा सकता है कि संसारकी सभी गति अथवा उन्नतिका मूल संकल्प ही है, परंतु साधारण स्थानोंमें संकल्पके पश्चात् अन्यान्य सामग्रियों और प्रयत्नोंकी भी अपेक्षा हुआ करती है। जैसे—कुलाल (कुम्भकार) घट-निर्माणका विचार करता है। तत्पश्चात् मृत्तिका, दण्ड, चक्र, चीवरादि सामग्रियोंका सञ्चय करता है, फिर हस्त आदि व्यापारसे घटको बनाता है। परंतु परमात्मा किसी भी सामग्रीकी अपेक्षा न करके अपने संकल्पमात्रसे ही विश्वका उत्पादन, पालन और संहार करता है।

वेदान्तके सिद्धान्तानुसार यह जगत् जड़ परमाणुओंके एकत्रित हो जानेमात्रसे नहीं बना, साथ ही विद्युत्-कणों या प्रकृतिकी हलचलसे भी नहीं बना; किंतु अनिर्वचनीय, माया-शक्तिविशिष्ट वस्तुत: सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्य परमात्मासे ही यह संसार बना है, वही इसके उपादानकारण तथा निमित्तकारण भी हैं। नैयायिक, वैशेषिक, योगी आदिके मतानुसार भी विश्वप्रपञ्च जड़ कार्य नहीं हो सकता। जब संसारके कोई भी प्राचीन विलक्षण कार्य एवं आधुनिक रेल, तार, मोटर, वायुयान आदि विविध कल-पुर्जे बिना किसी बुद्धिमान् चेतनके अपने-आप नहीं बन जाते, परमाणुओं, विद्युत्-कणों या प्रकृतिसे इनका निर्माण बतलानेवाला अश्रद्धेय समझा जाता है, तब विलक्षण संसार और तदन्तर्गत विभिन्न यन्त्रोंके आविष्कारक वैज्ञानिकोंके मन-बुद्धि (मस्तिष्क, दिमाग) आदिके बनानेवालेको जड़ कैसे कहा जाय? जब साधारणसे चित्र-ड्राइंग भी परमाणुओंके एकत्रित हो जानेमात्रसे नहीं बनते तो विश्व कैसे बन सकता है? भेद यही है कि इन मतोंमें परमाणु प्रकृति आदिका नियामक परमेश्वर माना जाता है; परमाणु, प्रकृति समवायिकारण या उपादान माने जाते हैं, परमात्मा निमित्त कारण माना जाता है, परंतु वेदान्त सिद्धान्तमें परमात्मा ही उपादान और निमित्त—दोनों ही तरहका कारण है। वह अपने संकल्पसे अपने-आपको ही प्रपञ्चरूपमें प्रकट करता है।

वाचस्पति मिश्रने कहा है कि 'भगवान्के स्वाभाविक सहज नि:श्वाससे अनन्त विद्याओंके उद्गम-स्थान वेदोंका प्रादुर्भाव होता है, उनके अवलोकन (निहारने)-से ही ब्रह्माण्डोंके उपादानभूत पञ्चमहाभूत—आकाश, वायु, तेज आदिकी उत्पत्ति होती है और भगवान्के मन्दहास (मुस्कराहट)-से ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड बनकर तैयार हो जाते हैं। उनके सोनेसे—आँख मीच लेनेसे ही विश्वका प्रलय हो जाता है।' यहाँ भी रूपकके द्वारा परमात्माके संकल्पसे ही साक्षात् एवं परम्परासे विश्वकी उत्पत्ति आदिका वर्णन किया गया है। यहाँ पूर्व-पूर्व कार्योंमें बुद्धि एवं प्रयत्नकी निरपेक्षता उत्तरोत्तर कार्योंमें कुछ सापेक्षता कही गयी है।

सारांश यह है कि भगवान् अपने संकल्पसे ही सम्पूर्ण संसारको बनाते हैं। भगवान्का ही अंश जीवात्मा है और भगवान्की मायाका ही अंश जीवका मन है। अत: भगवान् और मायाकी शक्ति वैसे ही जीवात्मा और मनमें रहती है, जैसे महाकाशकी अवकाशप्रदत्त शक्ति घटाकाशमें रहती है, जलकी शीतलता, मधुरता उसके अंश तरंगमें हुआ करती है, अग्निका दहन, प्रकाशन-सामर्थ्य उसके अंश विस्फुल्लिङ्ग (चिनगारी)-में रहा करता है। इस दृष्टिसे भगवान्की सभी शक्तियाँ जीवात्मामें होती हैं। मायाकी शक्तियाँ मनमें रहती हैं। इसीलिये शास्त्रोंने कहा है कि जीवात्मा अपने संकल्प-विचारोंसे बहुत कुछ कार्य कर सकता है। हाँ, अत्याचार, अनाचार, पापाचार एवं व्यभिचार आदिसे संकल्पकी शक्ति कमजोर हो जाती है। सदाचार, सद्विचार, सद्धर्म तथा तपस्या आदिसे संकल्पकी शक्तियाँ दृढ़ (जोरदार) हो जाती हैं।

परमेश्वरकी आराधनासे जीवात्मामें स्वाभाविक परमात्म-सम्बन्धी ऐश्वर्य प्रकट होते हैं, अन्यथा छिपे रहते हैं। सिद्ध

योगीन्द्र और मुनीन्द्र अपने संकल्पसे ही घटको पट और पटको घट बना सकते हैं। लौकिक महर्षियोंका वचन अर्थानुसारी हुआ करता है, अर्थात् जैसा अर्थ होता है उनका वैसा ही वचन होता है, परंतु सिद्ध प्राचीन महर्षियोंके वचनोंका अनुसरण तो अर्थको ही करना पड़ता है। अर्थात् वे अर्थको जैसा देखते हैं उसे वैसा ही बनना पड़ता है। इसीलिये अगस्त्यके वचनसे नहुषको अजगर बनना पड़ा था। संकल्पसे ही विश्वामित्रने बहुत-से नक्षत्रों और वस्तुओंको बनाया था। वचनके साथ भी संकल्प रहता है। अतएव, वचनके प्रभावके साथ संकल्पका प्रभाव रहता है।

सुना जाता है कि अमेरिका आदिमें बहुत-से मनोविज्ञानके अभ्यासी संकल्प या विचारसे ही गुलाबके फूलोंको घटाने या बढ़ानेमें सफल हो जाते हैं। एलोपैथिक एवं होम्योपैथिक आदि चिकित्साओंसे निराश रोगियोंको मनोविज्ञानकी महिमासे लाभान्वित करते हैं। एक मनोविज्ञानके पंडितने जीवनसे निराश किसी लड़कीको कई दिनोंतक बर्फके भीतर रखकर मनोविज्ञानके बलसे आराम पहुँचाया था। इसी प्रकार मनसे ही बहुत रोगोंसे आराम हो रहे हैं। वैसे हर एकके मनमें भी संकल्पकी प्रधानता रहती है, कारण सभी काम पहले मन या बुद्धिके साहाय्यकी अपेक्षा रखते हैं, पश्चात् किसी अन्यकी सफलतामें बुद्धि या सूझका बड़ा हाथ रहता है। अच्छी सूझसे ही व्यापारमें लाभ होता है। संग्राम जीतनेमें भी मन्त्रियों तथा सेनापतियोंकी उत्तम सूझ ही लाभदायक होती है। कितने स्थलोंमें नीति-निर्धारणकी ही बुद्धिमानी या गलतीसे व्यक्ति या समाज ही नहीं, किंतु राष्ट्र-का-राष्ट्र उन्नत या अवनत हो जाता है। विचारकी गलतीसे ही कहीं-कहीं बड़े-बड़े विजयी लोग एकदम पतनके गर्तमें चले जाते हैं। विचारकी ही अच्छाईसे कितने पथभ्रष्ट व्यक्तियोंका अतर्कित कायापलट देखा जाता है। इसीलिये मानना पड़ता है कि स्थूल जगत् किसी सूक्ष्म जगत्के नियन्त्रणमें रहते हैं। ऊपरसे देखनेमें स्थूल जगत् ही सब कुछ है, परंतु जब देखते हैं कि चींटी, चिड़िया, उष्ट्र, हाथी आदिके छोटे-बड़े देह सूक्ष्म विचारपर ही उठते, चलते, फिरते, बैठते हैं, तब यह कहनेमें कोई भी संकोच नहीं रह जाता कि ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त सभी प्राणियोंकी जो भी हलचलें हैं और उन हलचलोंसे जो भी कार्य सम्पन्न होते हैं, सब सूक्ष्म विचार मन या बुद्धिके ही कार्य हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वायु आदिके भी हलचलका कारण सूक्ष्म विचार ही हो सकता है। वह विचार अपनेसे भी सूक्ष्म चेतनाभास या अखण्ड बोधकी अपेक्षा रखता है। इसीलिये कहा जाता है कि अचेतनोंकी प्रवृत्ति तभी होती है, जब चेतनसे अधिष्ठित होता है। जैसे अश्व, सारथी आदिसे अधिष्ठित होनेपर ही रथ चलता है, अन्यथा नहीं; वैसे ही विचार या चेतनासे अधिष्ठित होनेपर ही सम्पूर्ण जड़ जगत् चेतन होता है। इसी न्यायसे यह भी कहा जाता है कि दृश्य जगत्का नियन्त्रण अदृश्य जगत्से होता है। इसी प्रकार आधिदैविक जगत्से आधिभौतिक जगत्का नियन्त्रण समझना चाहिये। विशेषकर जीवोंका उत्थान-पतन बहुत कुछ विचारोंपर ही अवलम्बित है।

शास्त्र कहते हैं कि पुरुष क्रतुमय है। अतएव **'यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिनिष्पद्यते।'** पुरुष जैसा संकल्प करने लगता है वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म करता है वैसा ही बन जाता है। जिन बातोंका प्राणी बार-बार विचार करता है, धीरे-धीरे वैसी ही इच्छा हो जाती है, इच्छानुसारी कर्म और कर्मानुसारिणी गति होती है। अतः स्पष्ट है कि अच्छे कर्म करनेके लिये अच्छे विचारोंको लाना चाहिये। बुरे कर्मोंको त्यागनेके पहले बुरे विचारोंको त्यागना चाहिये। जो बुरे विचारोंका त्याग नहीं करता, वह कोटि-कोटि प्रयत्नोंसे भी बुरे कर्मोंसे छुटकारा नहीं पा सकता। कितने प्राणी दुराचार, दुर्विचारजन्य दुर्व्यसन आदिको छोड़ना चाहते हैं। मद्यपायी वेश्यागामी व्यसनके कारण दुःखी होता है और रोगी बनता है, व्यसनको छोड़ना चाहता है, उपाय भी ढूँढ़ता है, महात्माओंके पास रोता भी है, छोड़नेकी प्रतिज्ञा भी कर लेता है; परंतु जो सावधानीसे मद्यपान, वेश्यागमन आदि दुराचारोंके बराबर चिन्तन और मननका परित्याग करता है, उनका स्मरण ही नहीं होने देता, विचार आते ही उसे विचारान्तरोंसे काट देता है, वह तो छुटकारा पा जाता है, परंतु जो बुरे विचारोंको न छोड़कर उनका रस लेता रहता है, वह कभी बुरे कर्मोंसे छुटकारा नहीं पा सकता, वह बार-बार भग्नप्रतिज्ञ होकर रोता है। विचारोंके समय असावधान रहता है। विचारसे क्या होता है? बुरा कर्म नहीं करूँगा, उसीके त्यागकी मैंने प्रतिज्ञा की है, इस तरह अपनेको धोखा देकर

विचारके रसका अनुभव करता है। वह कभी भी व्यसनसे आत्मत्राण नहीं कर सकता है। इसीलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह किसी तरह बुरे विचारोंको हटाये।

जिस समय बुरे विचार आने लगें, उस समय अन्यमनस्क होनेका प्रयत्न करे। भगवद्ध्यानसे, मन्त्र-जपसे, श्रवणसे, सत्सङ्गसे बुरे विचारोंकी धारा तोड़ देनी चाहिये। भले ही उपन्यासों, नाटकों, समाचार-पत्रोंको पढ़ना पड़े, परंतु बुरे विचारोंकी धारा अवश्य तोड़नी चाहिये। इसी प्रकार अच्छे कर्मोंके लिये तथा स्वस्थ होनेके लिये पहले अच्छे विचारोंको लाना चाहिये। अच्छे शास्त्रोंका अभ्यास, अच्छे पुरुषोंका सङ्ग करने और पवित्र वातावरणमें रहनेसे अच्छे विचार बनते हैं, बुरे विचार और बुरे कर्म छूट जाते हैं। एकाएक मनका संकल्प-विकल्पसे रहित होना असम्भव है, अतः तदर्थ प्रयत्न व्यर्थ है। जैसे भाद्रपदमें सिंधु, शतद्रु, गङ्गा आदि नदियोंका वेग रोककर उनके उद्गम स्थानमें लौटाकर उन्हें सुखा देना असम्भव है, परंतु उनकी धाराओंका मुँह फेरकर उन्हें छिन्न-भिन्नकर सुखाना सम्भव है; वैसे ही मनके संकल्पोंको एकदम रोक देना असम्भव है, परंतु बुरे विचारोंको रोककर सात्त्विक विचारोंकी धाराओंको चलाकर सात्त्विक वृत्तियोंसे तामसिक वृत्तियोंको काटकर, शनैः-शनैः अन्तरङ्ग सूक्ष्म सात्त्विक वृत्तियोंसे स्थूल बहिरङ्ग सात्त्विक वृत्तियोंको भी काटकर निवृत्तिकता सम्पादित की जा सकती है। वैदिक शास्त्रोंमें बालकोंके विचारोंको सँभालनेका बड़ा ध्यान रखा गया है। स्त्रियों और बालकोंके निर्मल-कोमल, पवित्र अन्तःकरणोंमें पहलेसे ही जो बातें अङ्कित हो जाती हैं, वे ही सदा काम आती हैं। चित्त या अन्तःकरण यदि अद्भुत लाक्षा (लाख)-के समान कठोर होता है तो उसमें किसी भी आचरण या उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ता और जब वह द्रुत लाक्षाके समान कोमल रहता है, तब लाक्षापर मुहरके अक्षरोंके समान निर्मल-कोमल पवित्र अन्तःकरण उत्तम आचरणों एवं उपदेशोंसे प्रभावित होता है। पहलेसे ही बुरे सङ्गों और ग्रन्थोंसे बालकोंके हृदयमें कूड़ा-करकटका भरा जाना अत्यन्त हानिकारक है। इसीलिये अच्छे पुरुषोंका सङ्ग तथा सच्छास्त्रोंके अभ्यासमें ही उन्हें लगाना अच्छा है। प्रत्येक दृष्टिसे स्वस्थ रहनेका यही अमोघ उपाय है—

यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चैव सेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति पूरुषः॥

अर्थात् जैसे लोगोंका सहवास होता है और जैसे लोगोंका सेवन होता है तथा जैसा होनेकी उत्कट वाञ्छा होती है, प्राणी वैसा ही हो जाता है।

जीवन और मृत्युका रहस्य

(ब्रह्मलीन जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

जीवन और मृत्यु—दोनों ही शब्द संस्कृत भाषाके हैं तथा परस्पर विरोधी हैं। '**जीव प्राणधारणे**'—धातुसे 'जीवन' शब्द और '**मृङ प्राणत्यागे**' से 'मृत्यु' शब्दकी व्युत्पत्ति होती है। प्राणधारणसे प्राणत्याग बिलकुल विपरीतार्थक है। इसका सीधा-सा अभिप्राय यह है कि जबतक प्राण-वायुका संचार नासिकारन्ध्रद्वारा होता रहता है, तबतक 'जीवन' और जब प्राण-वायुका नासिकारन्ध्रोंसे गतागत समाप्त हो जाता है, तब 'मृत्यु' शब्दका प्रयोग होने लगता है। इस प्राण-वायुके धारण और परित्यागद्वारा जो जीवन और मरण—ये दो अवस्थाएँ बनीं, ये शरीरकी हैं या शरीरके अभ्यन्तर निवास करनेवाले जीवकी अथवा केवल वायुकी?

जीवन और मृत्युका व्यपदेश शरीरसे सम्बन्ध रखता है। अर्थात् जबतक शरीरमें प्राण-वायुका संचार रहता है, तबतक नेत्रोंसे अंधा, कानोंसे वधिर और वाणीसे गूँगा भी 'जीवित' ही कहा जाता है। जब प्राण-वायुका सम्बन्ध शरीरसे हट जाता है, तब सभी इन्द्रियोंसे सम्पृक्त होता हुआ भी वह 'मृत' माना जाता है। इसलिये प्राणको सबसे उत्तम माना गया। **यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च॥** (छान्दोग्य० ५।१।१) इसी अध्यायमें प्राणको सबसे श्रेष्ठ बताया गया है—'**ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को नः श्रेष्ठ इति तान् होवाच यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठः॥**' (छान्दोग्य० ५।१।७) 'प्रजापतिके पास जाकर समस्त इन्द्रियोंसहित प्राणोंने कहा—'भगवन्! हम सबमें कौन बड़ा है?' प्रजापति भगवान्ने सीधा उत्तर दिया

कि 'जिसके निकल जानेपर यह शरीर अत्यन्त हेय समझा जाय वही सबसे बड़ा है।' प्रजापतिकी इस बातपर विश्वास न कर सबसे पहले वागिन्द्रियने शरीरका परित्याग किया; पर शरीरकी केवल वक्तृत्व शक्तिको छोड़कर और कुछ हानि नहीं हुई। पूर्वकी भाँति सुनना, देखना और समझना बना रहा। इसी प्रकार क्रम-क्रमसे एक-एक कर सब इन्द्रियोंने शरीरका परित्याग करते हुए यह परीक्षा की कि क्या हमारे शरीरमें न रहनेसे यह उसी प्रकार कार्य-क्षम (जीवित) रहेगा या नहीं? पर इन्द्रियोंके निकल जानेपर प्राण-वायुके रहते-रहते शरीरकी 'जीवित' संज्ञा ही रही 'मृत' नहीं। अत: इसी क्रममें शरीरका त्याग कर प्राणोंके निकलनेका समय आया। सभी इन्द्रियाँ बेचैन हो गयीं और प्रार्थना करने लगीं—'**भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति।**' (५।१।१२) इस प्रकार प्राणका स्थान शरीरमें सबसे ऊँचा है।

अब विचार यह करना है कि 'क्या प्राण-परित्यागसे शरीरकी मृत्यु और प्राणके रहते-रहते जीवन, बस, इतना ही सत्य और तत्त्व है या जीवन-मरण-व्यपदेशमें अन्य भी कोई तथ्य है?' इस सम्बन्धमें नास्तिक और आस्तिक दो सम्प्रदाय सामने आते हैं। 'नास्तिक' का कहना है कि 'पृथिव्यादि पञ्चभूतोंके स्व-स्व मात्राके अनुसार मिल जानेपर एक शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे शरीरमें चैतन्यता आ जाती है। इन पाँचों तत्त्वोंका आंशिक अथवा सर्वांश विघटन ही मृत्यु है। अतएव शरीरसे पूर्व कोई चैतन्य तत्त्व (जीव) नामकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होगी तथा न मृत्युके पश्चात् उस शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाला तत्त्व किसी लोक-लोकान्तर या किसी भी रूपान्तरमें अवशेष रहता है, जो शरीरद्वारा किये गये बुरे-भले कर्मोंका फल भोग करे, इसलिये आनन्दपूर्वक इस शरीररूपी आत्माका किन्हीं भी सदसत् उपायोंद्वारा आप्यायन करते रहो और आनन्दसे जीवन बिताओ—'**भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः**', '**ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।**' इत्यादि उनका घण्टा-घोष है। इस स्थितिके अनुसार शरीरकी उत्पत्ति भी कामासक्त स्त्री-पुरुषोंके परस्पर देह-संघर्षके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस प्रकारके विचारवादियोंके लिये काम-तृप्ति सर्वत्र समान है।

अब 'आस्तिक' सम्प्रदाय आता है। वह नास्तिककी उपर्युक्त आंशिक युक्तियोंकी धज्जी उड़ा देता है यह कहते हुए कि 'यदि शरीरकी उत्पत्ति (जीवन) और विनाश (मृत्यु)-का कोई परोक्ष कारण नहीं है तो सभी मनुष्य समान रूप, समान शरीर, समान आयु और समान भोगवाले होने चाहिये थे। विषमताका क्या कारण है?' समान रूपादिके सम्बन्धमें नास्तिक यह कहकर कपड़े छुड़ाना चाहता है कि 'किसी देशकी जलवायु, खान-पान और आर्थिक व्यवस्थाके ढाँचेके अनुसार रूप, आयु और अवस्था निर्भर करती है।' पर हम पूछते हैं कि जन्मसे अंधे, जन्मसे गूँगे और जन्मसे बहरे क्यों उत्पन्न होते हैं? यदि यह कहो कि इसमें माता-पिताका दूषित शुक्र और शोणित ही कारण है तो पूछना होगा कि इससे पहलेके और बादके बच्चोंमें इस प्रकारका ऐन्द्रिय-दोष न होनेसे शुक्र-शोणितका दूषण कहाँ गया? अत: यह अवश्य मानना होगा कि हमारे जीवन-मृत्युके साथ न केवल प्राणका संसर्ग है, अपितु और भी कोई इस प्रकारके तत्त्व अवश्य हैं, जो प्राणके सहचारी या प्राणानुगामी हैं। वह तत्त्व सम्भूय होकर जैसे इस शरीरको धारण करता है, ठीक वैसे ही शरीरान्तर-धारणकी क्षमता भी रखता है। जैसे इस भूलोकमें इस शरीरद्वारा रहता है, वैसे ही इस लोकमें देहान्तर और लोकान्तरमें शरीरान्तर प्राप्त करनेकी क्षमता भी रखता है। इसलिये—

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः।
चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते॥

(पञ्चदशी-द्वैत ११)

—के अनुसार लिङ्गशरीरकी कल्पनाका आधारभूत चैतन्य-अधिष्ठान, लिङ्गशरीर—पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन और बुद्धि—ये सत्रह तत्त्व तथा इन सत्रह तत्त्वोंमें पड़ा हुआ चिदाभास—यह 'जीव' शब्दसे लिया जाता है। अतएव यह सत्रह तत्त्ववाला जीव कर्मानुसार शरीरान्तरमें गतागत करता रहता है। इस प्रकार अधिष्ठानचैतन्य, लिङ्गदेह और चिदाभास—इनकी कभी मृत्यु नहीं होती और न इनका कभी जीवन होता है। इनसे युक्त शरीरका ग्रहण 'जन्म' और उस शरीरका त्याग ही 'मृत्यु' मानी जाती है। अतएव गीतामें—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(२।२२)

—कहा गया है अर्थात् 'जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।' पुराने वस्त्रके त्याग और ग्रहणमें भी कुछ निमित्त होता है। कोई उत्सव या अन्य हेतु होनेपर ही वस्त्रान्तर धारण किये जाते हैं। ठीक उसी प्रकार कर्मनिमित्तक ही देहान्तरके धारण करनेका कारण होता है। इसीलिये छान्दोग्योपनिषद् (६।८।४)-में '**सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः**' कहकर सिद्ध किया गया है कि 'हे सौम्य! इस समस्त संसारका मूल सत्तत्त्व है और इस सब प्रजाका एकमात्र सदधिष्ठान है तथा सब प्रजा सत्तत्त्वमें ही स्थित है।' इस प्रकार शरीरसे भिन्न, प्राणसे भिन्न तथा इन्द्रियग्रामसे भिन्न एक तत्त्व है, जो शरीरान्तरोंमें गतागत करता है और उसकी जीवन तथा मृत्यु—ये दो गतियाँ हैं।

यह तो एक अत्यन्त सामान्य और साधारण-सी बात है। पर इससे भी आगे बहुत ही विचारणीय बात यह है कि आखिर वह तत्त्व, जो पूर्वोक्त तीन वस्तुओंका संघ है, वह कैसे मनुष्य और स्त्रीके शुक्र-शोणितमें पहुँचा, कहाँसे गया, कैसे गया इत्यादि? यह एक गम्भीर प्रश्न है। इसी प्रसङ्गको दृष्टिमें रखते हुए श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।१)-में लिखते हैं—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥

इसका उत्तर देते हुए आगे लिखा है—'काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत प्रभृति आत्म-संयोगसे शरीरके कारण होते हैं, केवल आत्मा इस सम्बन्धमें कारण नहीं माना जाता।' जिस प्रकार उत्पत्स्यमान अङ्कुरके प्रति न केवल बीज, न केवल भूमि और न केवल कृषक कारण है—बीज, भूमि, कृषक, जल, वायु सभी समुदित होकर अङ्कुरके कारण बनते हैं, ठीक उसी प्रकार अन्नादि मेघद्वारा और शुक्र-शोणित अन्नद्वारा बननेपर जीव भी उन-उन पदार्थोंके द्वारा उन्हींमें ओतप्रोत हुआ जीवन-मरणके चक्करमें पड़ा रहता है। इस महाचक्रसे छुटकारा पानेके लिये जप, तप, ध्यान और समाधिका विधान शास्त्रोंमें बताया गया है। वह एक देव आत्मा या ब्रह्मपदवाच्य ऊर्णनाभि (मकड़ी)-की भाँति अपने द्वारा उत्पन्न की गयी वस्तुओंसे ही अपनेको बाँध लेता है। ठीक उसी प्रकार यह आत्मारूपी दिव्य प्रकाशवाला देव अपने द्वारा उत्पन्न की गयी वस्तुओंसे अपनेको ही बाँध लेता है। यथा—

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्। स नो दधाद्ब्रह्माप्ययम्॥

(श्वेताश्वतर० ६।१०)

इसी बातको और स्पष्ट करते हुए कौषीतकि-ब्राह्मणोपनिषद्में लिखा है कि 'लोग इस संसारको छोड़कर परलोकमें जाते समय पहले चन्द्रमामें पहुँचते हैं। यदि उन जीवोंके कर्म तुरंत जन्म लेनेके योग्य होते हैं तो वे वर्षाद्वारा भूमिपर आ जाते हैं और जिन शरीरोंके उपयोगी उनके कर्म होते हैं, उन शरीरोंमें वे पहुँच जाते हैं। कोई कीड़े, पतंगे, पक्षी, सिंह; कोई मनुष्य, देव, गन्धर्व इत्यादि शरीरोंमें जन्म ग्रहण कर लेते हैं।'

इस प्रकार जीवन-मृत्युका शास्त्रोंमें बहुत विवेचन है। पर वस्तुस्थिति यह है कि वही एक तत्त्व ब्रह्म या आत्मा सर्वत्र है। कर्मानुसार उसीका देहान्तरमें प्रवेश-निवेश होता है। यह सब सत्-असत् कर्म-कलापका परिणाम है। वास्तवमें यदि आत्म-तत्त्वको ठीक समझ लिया जाय—मनन और निदिध्यासनद्वारा पूर्ण निष्ठा हो जाय तो जन्म देनेवाले कर्मोंकी समाप्ति हो जाती है। जब जन्म देनेवाले कर्म नहीं, तब मृत्यु कहाँसे? इसीलिये वेदान्तियोंका यह डिण्डिम घोष है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

(आत्मोपनिषद् ३१)

अर्थात् न तो आत्माकी कभी उत्पत्ति होती है और न कहीं यह अवरुद्ध किया जा सकता है; न आत्मा कभी बंधनमें पड़ता है और न ही कभी इसे साधना करनेकी आवश्यकता पड़ती है; न तो इसे कभी मोक्षके लिये प्रयत्न करना पड़ता है और न यह कभी मुक्त ही होता है; क्योंकि यह पहलेसे ही मुक्त है। वास्तवमें यही पारमार्थिक स्थिति है।

आयुर्वेद भगवान्‌की देन

(ब्रह्मलीन जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीनिरंजनदेवतीर्थजी महाराज)

महर्षि चरक, सुश्रुत एवं वाग्भटके अनुसार आयुर्वेदके मूल प्रवर्तक साक्षात् भगवान् हैं। भगवान्‌के द्वारा इन्द्रको, इन्द्रसे भरद्वाजको और भरद्वाजसे अन्य ऋषियोंको आयुर्वेदकी प्राप्ति हुई। इस प्रकार आयुर्वेद अपने-आपमें सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण ईश्वरीय विज्ञान है। आयुर्वेदके प्रवर्तक धन्वन्तरि चौबीस अवतारोंमेंसे एक अवतार हैं। उनके द्वारा प्रदत्त आयुर्वेदमें किसी प्रकारकी कमी नहीं है। इसीलिये कल्प-कल्पान्तर, युग-युगान्तरके बाद भी आयुर्वेदिक औषधियाँ पूर्ण सावधानीसे और विधि-विधानके अनुसार नहीं बननेपर भी लाभ ही करती हैं। यदि उन्हें आयुर्वेदशास्त्रमें निर्दिष्ट विधिके अनुसार उपयुक्त भूमि एवं उपयुक्त मुहूर्तमें पूर्ण सम्मानके साथ पैदा किया जाय, मन्त्रादिके प्रयोगसे उनकी रक्षा की जाय, फिर शास्त्रीय विधिसे सम्मानपूर्वक पूजन करके निमन्त्रण देकर लाया जाय और शास्त्रीय विधिसे उनका निर्माण किया जाय, निदानपूर्वक रोगका निश्चय करके रोगीकी अवस्था, शक्ति, क्षमता आदिका विचार करके प्रयोग किया जाय तो वे कभी भी हानि नहीं करेंगी तथा सर्वथा लाभदायक ही होंगी।

अंग्रेजी दवाइयाँ अनेक यन्त्रोंमें छान-छानकर तैयार की जाती हैं, फिर भी उनकी विपरीत प्रतिक्रिया (रिऐक्शन) होनेपर भयंकर हानि होती है। इसके विपरीत देशी दवाइयाँ विधिपूर्वक न बननेपर भी लाभ भले न करें, पर हानिकारक तो होतीं ही नहीं।

यह कहते हुए कष्ट होता है कि बहुत कम वैद्य ऐसे हैं, जो आदिसे अन्ततक अपनी देख-रेखमें औषधका निर्माण कराके उसका उपयोग करते हैं। देखा तो यह जाता है कि वैद्यराज महोदयके यहाँ काम करनेवाले वैद्यक विद्यासे सर्वथा अनभिज्ञ सेवक लम्बी-चौड़ी लिस्ट लेकर पंसारीकी दूकान जाते हैं। पंसारी समझता है कि स्टॉकमें रखा कूड़ा-करकट निकालनेका अवसर आ गया। वह पुड़िया बँधवाकर ले जाता है, कूट-छानकर औषधि बना लेता है। यह भगवान्‌की ही देन है कि इस प्रकारकी भी औषधि रोगीको लाभदायक भले ही न हो, नुकसान कभी नहीं करती। आयुर्वेदिक औषधियोंमें यह बड़ी विशेषता है कि वे धीरे-धीरे लाभ करती हैं, किंतु उनका प्रभाव स्थायी होता है; जब कि अंग्रेजी दवाइयाँ शीघ्र लाभ करती हैं, किंतु उनका प्रभाव स्थायी नहीं होता। यह भी दु:खके साथ कहना पड़ता है कि आजकलके नये वैद्य पाश्चात्त्य ढंगसे बन-ठनकर अपने-आपको डॉक्टर कहलानेमें गौरव समझते हैं। जब कि शास्त्रोंके अनुसार वैद्योंको अनुल्वण—सौम्य वेष धारण करना चाहिये। आयुर्वेदका अध्ययन भी आचार्योंके आज्ञानुसार उपनयनपूर्वक होना चाहिये। स्पष्ट है कि उपनयनके अधिकारी ही आयुर्वेद-विद्या पढ़नेके अधिकारी हैं।

यहाँ महापुरुषोंसे प्राप्त कुछ अनुभूत योग दिये जाते हैं। उनको चिकित्सकके निर्देशानुसार काममें लाना चाहिये।

आधाशीशी (आधा सिर दुखना)

शुद्ध देशी घी एवं चीनीमें बनी हुई जलेबी रातको काँसेके बर्तनमें दूधमें भिगोना चाहिये। रातभर उसे छतपर रखना चाहिये जिससे चन्द्रमाकी किरणें उसपर पड़ें। प्रात: स्नान कर अधिकारानुसार संध्या-पूजाके पश्चात् भगवान्‌को निवेदन करके जितनी वह हजम हो सके खाना चाहिये।

सब प्रकारके उदर-रोगों (संग्रहणी)-के लिये

एक रत्ती शङ्खभस्म, एक रत्ती सिद्धप्राणेश्वर, एक रत्ती रामबाण-रस, आधी रत्ती स्वर्णपर्पटी, आधा रत्ती मकरध्वज—इन सबको मिलाकर दो पुड़िया बनानी चाहिये। एक सुबह और एक शामको भुने हुए जीरेके चूर्ण और शहदके साथ लेना चाहिये।

पुरानी संग्रहणी

संग्रहणीमें प्रात:-सायं रामबाण-रस सादे पानीके साथ और मध्याह्नमें दो रत्ती सिद्धप्राणेश्वर चावलके पानीके साथ लेना चाहिये।

पथ्य—प्रात:काल पुराने चावल और मूँगकी खिचड़ी खाये और सायंकाल भूख लगे तो थोड़ा शुद्ध घी और चीनीका हलवा खा ले।

ब्लड-शुगर या यूरिन-शुगर
खून, पेशाबकी चीनी

इस रोगमें दूध-दहीसे बचना चाहिये। इसमें न अधिक बैठना चाहिये और न अधिक लेटे रहना चाहिये। अधिक नींद भी नहीं लेनी चाहिये। अधिक-से-अधिक पुट अभ्रकभस्म शहदके साथ लेना चाहिये। रात्रिमें सोते समय एक तोला त्रिफला सादे जलके साथ लेना चाहिये।

बिना दवाईके भी शुगर-रोग गर्मीके दिनोंमें चैत्रसे भाद्रपदतक जौकी रोटी खानेसे और आश्विनसे फाल्गुनतक बाजरेकी रोटी, मूँगकी दाल, मेथी, पालक, बथुआ एवं चौलाईका शाक खानेसे मिट सकती है।

तमक श्वास (स्नोफीलिया) दमा

इसमें कर्पूररस और अभ्रक एक-एक रत्ती लेना चाहिये। सूर्यास्तके बाद भोजन नहीं करना चाहिये। घी या तेलमें तली हुई वस्तुएँ नहीं खानी चाहिये। भारी वस्तु भी नहीं लेनी चाहिये।

एग्ज़िमा

कर्पूर एवं नारियलका तेल तथा नीबूका रस समान मात्रामें खरल करके मलहम बना ले। इसका दिनमें दो बार प्रयोग करना चाहिये।

आँखकी दवा

सभी प्रकारके आँखके रोगोंमें नीबूके रसको मिश्रीकी एक तारकी चासनीमें डालकर ठंडा करके, सादे काँचकी शीशीमें भर ले। इसे काजलकी तरह दिनमें दो बार आँखमें लगाये।

(प्रेषक—ब्रह्मचारी सर्वेश्वर चैतन्य)

ब्रह्मचर्य-रक्षाके उपाय और फल

(ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

१. जिस देश, जाति और वंशके लोग चाहते हों कि हमारी संतान-परम्परामें ब्रह्मचारी उत्पन्न हों, उन्हें ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्मचारीका विशेष आदर करना चाहिये और स्वयं शास्त्रोक्त आश्रमोचित ब्रह्मचर्यके नियमोंका यथाविधि पालन करना चाहिये। वंशपरम्परा और माता-पिताके भावका ब्रह्मचर्यपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। अनैतिक रीतिसे उत्पन्न संतानसे ब्रह्मचर्यकी आशा रखना उपहासास्पद है। यदि माता-पिताका संयोग केवल उद्दाम भोगलालसाकी तृप्तिके लिये ही होता है तो भावी संतान वासनापूर्ति-परायण हो जाय, इसमें क्या आश्चर्य है? भावी शिशुके शरीरगत सारे ही उपादान माता-पिताके मन और धातुओंसे ही संघटित होते हैं। यदि मूलमें ही दोष रहा तो कार्य निर्दोष कैसे हो सकता है? इसलिये माता-पिताको धर्मबुद्धिसे ऋतुकालमें शास्त्रोक्त रीतिसे संयोग करके संतानोत्पादन करना चाहिये। माता-पिताके मनमें आदर्श ब्रह्मचारी संतान ही उत्पन्न करनेका संकल्प होना चाहिये। जबतक शिशु गर्भमें रहे, माता-पिताको वासनारहित जीवन व्यतीत करना चाहिये। माता-पिताके भाव-बीज ही संतानमें अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होते हैं।

२. जबतक शिशु माताका दूध पीता है, तबतक माताके शरीरसे और भावसे भी कामकी वृत्तिका स्पर्श न होना ही श्रेयस्कर है; क्योंकि मनमें कामावेश होनेपर शरीरके प्रत्येक अवयव एवं परमाणुमें उसकी व्याप्ति हो जाती है। इससे बच्चोंके मनमें भोगसम्बन्धी संस्कार तो पड़ते ही हैं, स्नायुओंमें उत्तेजना भी होने लगती है। छोटे-छोटे बच्चोंके मस्तिष्क और शरीरके अवयव बहुत ही कोमल एवं स्निग्ध होते हैं। शैशवमें ही उनपर जैसी छाप पड़ जाती है, वही जीवनभर प्रकाशित होती रहती है। जो लोग अपनी संतानको ब्रह्मचारी बनाना चाहते हैं, उनके लिये यह आवश्यक है कि जबतक वह दूध पीता रहे, तबतक अपनी वासनाको शान्त रखें।

३. माता-पिताको शिशुके सम्मुख ऐसी कोई चेष्टा कभी नहीं करनी चाहिये, जिसको देखकर उसके जीवनमें भी बुरी आदतें उतर आयें। खट्टा, चरपरा, चाट, मिठाई न तो स्वयं खाना चाहिये और न बच्चोंको ही खिलाना चाहिये। शरीरकी चरम धातु (वीर्य) रग-रगमें अनुस्यूत रहती है। बचपनमें भी उत्तेजक पदार्थोंके सेवनसे उसका पृथक्करण होने लगता है। इसीसे छोटे-छोटे बच्चोंको भी

प्रमेह, धातुक्षय हो जाते हैं। बचपनसे ही आहार-शुद्धि ब्रह्मचर्यके लिये अत्यन्त आवश्यक है। आहार-शुद्धिके सम्बन्धमें चार बातें ध्यानमें रखनी चाहिये—

(अ) आहार स्वभावसे ही उत्तेजक न हो। मांस, शराब, प्याज, लहसुन आदि जन्मसे ही उत्तेजक हैं।

(आ) भोज्य पदार्थमें कोई ऐसी वस्तु न मिली हो, जिससे वह वीर्यक्षरणका हेतु बन जाय—जैसे अमचूर, राई, गरम मसाले, लाल मिर्च इत्यादि। धूम्रपान ब्रह्मचर्यका महान् शत्रु है।

(इ) भोजनकी वस्तु रजस्वला एवं प्रबल काम-वासनावाली स्त्रीके द्वारा स्पर्श की हुई या बनायी हुई न हो। कुत्ते और गीध आदिकी दृष्टि भोजनपर नहीं पड़नी चाहिये। भोजनपर भावका बहुत प्रभाव पड़ता है। रोती हुई स्त्रीके हाथका भोजन करनेसे रोना पड़ता है।

(ई) भोज्य पदार्थपर अपना न्यायसंगत स्वत्व होना भी आवश्यक है। दूसरेका हक मनको बाहर खींचता है। गृहस्थको बिना परिश्रम अथवा बिना मूल्यका भोजन नहीं करना चाहिये। इससे विकारोंकी वृद्धि होकर गृहस्थोचित ब्रह्मचर्य भङ्ग हो जाता है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासीका भिक्षापर न्यायोचित स्वत्व है; परंतु यदि वे आश्रमोचित कर्मानुष्ठान न करें, केवल भिक्षाजीवी बन जायँ तो उनका पतन हो जाता है। ब्रह्मचारीके लिये श्रम अपेक्षित है, चाहे वह किसी भी आश्रममें क्यों न रहता हो। श्रमसे ही शुक्रका पाचन होता है।

४. जब बालक थोड़ा बड़ा हो जाय, तब उसे भोगमय वातावरणसे अलग रखना चाहिये। प्राचीन कालमें इसके लिये गुरुकुल अथवा ऋषिकुलकी प्रणाली थी। इससे अनेक लाभ हैं—

(क) अध्ययनकी निश्चिन्त सुविधा।

(ख) आदर्श आचार्यसे आचरणसम्बन्धी व्यावहारिक शिक्षा।

(ग) आचार्य एवं आश्रमकी सेवासे स्वार्थत्याग एवं सार्वजनिक हितका अभ्यास।

(घ) एक विशेष परिवारमें ही मोह-ममताकी शिथिलता।

(ङ) भोगमय जीवनसे पृथक् रहकर अपने लिये प्रवृत्ति एवं निवृत्तिमार्गमेंसे कोई एक चुननेके लिये संतुलित बुद्धिद्वारा विचार।

(च) संग्रह-परिग्रहके आडम्बरके बिना भी सुखी रहनेकी आदत पड़ जानेसे अर्थासक्ति और भोगलिप्साकी निवृत्ति तथा भ्रष्टाचार, अत्याचार, अनाचार और व्यभिचार आदिसे स्वयं घृणा होना।

(छ) शान्तचित्तसे आत्मस्वरूप एवं परमात्मस्वरूपका विवेचन होनेसे तत्त्वसाक्षात्कार होकर परमानन्दस्वरूप ब्रह्ममें स्वाभाविक स्थिति।

(ज) विश्व, राष्ट्र, सम्प्रदाय, समाज, परिवार एवं व्यक्तिकी सेवाकी योग्यता प्राप्त होना।

५. माता-पिता एकसे अधिक पुत्र उत्पन्न न करें तो सर्वोत्तम है। यदि अधिक पुत्र उत्पन्न करना ही हो तो बालकको ब्रह्मचर्याश्रममें निश्चितरूपसे भेज दें, जिससे बालकके स्वाभाविक ब्रह्मचर्यके भावपर कोई ठेस न पहुँचे और वह आदर्श आचार्यकी शरणमें रहकर सत्य, अहिंसा आदि सद्गुणोंको सीख सके एवं ज्ञानोपार्जन भी कर सके।

६. आचार्यका आदर्श होना परम आवश्यक है। वह भी ब्रह्मचारी हो तो सर्वोत्तम। यदि गृहस्थ हो तो अपनी स्त्रीको आश्रमसे सर्वथा पृथक् रखे। स्वयं संध्या-वन्दन, बलिवैश्वदेव आदि नित्यकर्मका अनुष्ठान करे। सत्य, अहिंसा आदि नियमोंका पालन करे। स्वाध्यायशील और परिश्रमी हो। उद्धत वेश-भूषा धारण न करे। शौकीनी न करे। सादगीसे रहे। ब्रह्मचारियोंको अपने पुत्रके ही समान समझे। अपने आचरणके द्वारा उनके हृदयपर स्वार्थत्याग, विश्वसेवा, श्रद्धा, अभय आदि दैवीसम्पत्तिके भाव अङ्कित करे। आचार्यके गुण ही ब्रह्मचारीमें उतरते हैं। आचार्यको आलस्य, प्रमाद, परनिन्दा आदि दोष भूलकर भी नहीं अपनाने चाहिये। काशीके एक विद्वान् आचार्य एक बार अपने पुत्रके सामने संध्या-वन्दनमें किञ्चित् प्रमाद कर बैठे थे, जिससे उनके पुत्रने संध्या-वन्दन करना ही छोड़ दिया।

७. ब्रह्मचारियोंके जीवनकी आधार-शिला श्रद्धा और विश्वास ही है। बाल्यावस्थामें उनके विचार, ज्ञान और अनुभवकी मात्रा अत्यन्त स्वल्प होती है। इसलिये ब्रह्मचर्य-

आश्रममें ऐसी शिक्षा देनी चाहिये, जिससे ब्रह्मचारियोंके अन्त:करणमें शास्त्रके प्रति महत्त्व-बुद्धि, धर्ममें निष्ठा और ईश्वरमें विश्वासकी वृद्धि हो। प्राथमिक शिक्षामें खण्डन-मण्डनवाले ग्रन्थोंको स्थान नहीं देना चाहिये। एक समाजके प्रति राग और दूसरेके प्रति द्वेष उत्पन्न करनेवाली शिक्षा अनर्थकी जननी है। इसीसे व्यापक वैमनस्य, संघर्ष, कलह एवं गृहयुद्धोंकी उत्पत्ति होती है। शिक्षा सर्वतोमुखी होनी चाहिये। उसमें साधारण उठने-बैठने, खाने-पीने, बोलने आदिकी शिष्ट रीति बतानेके साथ-ही-साथ घरेलू काम-धंधे, चिकित्सा, व्यापार आदिकी बातें भी बतानी चाहिये। इतिहास, भूगोल, विज्ञान, शासन-प्रणाली, संविधान, देश-विदेशकी संस्कृति, अन्ताराष्ट्रिय सम्बन्ध आदिका प्रशिक्षण भी आवश्यक है। पाठनकी रीति ऐसी होनी चाहिये, जिससे केवल किताबी ज्ञान न होकर रचनात्मक और अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त हो। कूपमण्डूकवत् सङ्कीर्ण प्रवृत्तियों और भावनाओंका अन्त कर देना चाहिये। यदि अन्त:करणमें ईश्वर और धर्मपर विश्वासकी स्थापना नहीं की गयी तो संसारकी कोई भी शिक्षा मनुष्यको ईमानदार और चरित्रवान् बनानेमें सफल नहीं हो सकती। कोई भी शासन, विधान, पुलिस, सेना एवं अस्त्र-शस्त्र मनुष्यके हृदयको नहीं गढ़ सकता। श्रद्धा, भावना, विचार और आचरणके द्वारा ही उसका निर्माण हो सकता है।

८. ब्रह्मचारियोंको अपने आचार्यके प्रति निश्छल, नम्र एवं अत्यन्त श्रद्धालु होना चाहिये। उनके प्रत्यक्ष और परोक्षमें भी बड़ी सभ्यता, समझदारी, विनय और मर्यादासे बर्ताव करना चाहिये। आचार्यसे पीछे सोना और पहले उठना चाहिये। स्नान, संध्या-वन्दन, हवन, व्यायाम और स्वाध्यायसे शरीर एवं बुद्धिका पोषण होता है। उपासनाके बिना चित्तमें एकाग्रता और सूक्ष्मता नहीं आती। आसनके अभ्यासके साथ-साथ थोड़ा प्राणायाम भी लाभकारी है। इससे शास्त्रका तात्पर्य ग्रहण करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। ब्रह्मचारीको क़ब्ज़ कभी नहीं होने देना चाहिये। उससे ही आलस्य, प्रमाद और आगे चलकर स्वप्नदोषकी सृष्टि होती है। पेटकी खराबीसे मनमें विकार आने लगते हैं। इसके लिये भोजनपर नियन्त्रण रखना अनिवार्य है। अत्याहार और अनाहार दोनों ही क़ब्ज़के कारण बनते हैं। सात्त्विक भोजन भी मात्रासे अधिक लेनेपर विष हो जाता है। इसलिये भोजनमें मात्राका परिमित होना बहुत ही जरूरी है। आजके संसारमें भोजन न मिलनेसे उतने मनुष्य रुग्ण एवं काल-कवलित नहीं होते, जितने अधिक भोजन करनेके कारण होते हैं। अपनी उन्नति, अन्तर्मुखता और संयमका लेखा-जोखा रखना चाहिये। जीवनको आत्मबल, उत्साह और आशासे पूर्ण कर देना चाहिये। ब्रह्मचारीका संकल्प दृढ़ एवं अविचल हो।

९. ब्रह्मचर्याश्रमके संचालकोंको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि ब्रह्मचारी भीतर कुछ और तथा बाहर कुछ और न होने पावे। ब्रह्मचारीके जो दोष-दुर्गुण निवृत्त करने हों, उनके प्रति पहले उनमें दोषबुद्धि उदय करानी चाहिये और जो काम कराना हो उसके प्रति महत्त्वबुद्धि, जिससे उनकी वर्धिष्णु विचार-शक्तिपर कोई आघात न लगे। विशेष दबाव डालकर जो नियम पालन कराये जाते हैं, उनका प्रभाव प्रतिक्रियात्मक पड़ता है। ब्रह्मचारीकी बुद्धि ज्यों-ज्यों विकसित होती जाय, त्यों-त्यों उनके आचारसम्बन्धी विज्ञानमें भी वृद्धि होनी चाहिये। अन्यथा ब्रह्मचर्याश्रमसे निकलते ही वे एकाएक समस्त नियमोंको तोड़ डालते हैं और जिस जीवन-निर्माणके लिये उनसे तपस्या करायी जाती है, वह नहीं हो पाता। एक बात और भी ध्यानमें रखनेकी है। ब्रह्मचारियोंके द्वारा जो उनकी विद्या-बुद्धिके सार्वजनिक प्रदर्शन कराये जाते हैं, वे सच्चे हों। उनमें दम्भकी मात्रा बिलकुल नहीं होनी चाहिये। ब्रह्मचारी छात्रको जिस विषयका ज्ञान नहीं है, यदि वह दूसरेसे उधार लेकर, रटकर, नकल करके या अन्य किसी अनुचित रीतिसे जनसमाजमें उसका प्रदर्शन करता है तो थोड़ी देरके लिये संचालकों, आचार्यों एवं ब्रह्मचारियोंको तात्कालिक वाहवाही और प्रशंसा प्राप्त हो जाती है। कुछ आर्थिक लाभ होना भी सम्भव है; परंतु इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव प्रतिकूल पड़ता है। झूठे अभिमान और दम्भसे बढ़कर कोई पतनका स्थान नहीं है। अपनी कमजोरियोंको जानना, अज्ञानको पहचानना, सतत आत्मनिरीक्षण करना सबसे बड़ी शिक्षा है।

१०. अध्ययन-अध्यापनमें एक हदतक भाषा और व्याकरणका ज्ञान आवश्यक है; परंतु वही सब कुछ नहीं

है। वस्तुके ठोस ज्ञानपर ही मुख्य दृष्टि रखनी चाहिये। केवल 'गौ' शब्द, उसके धेनु, सुरभि, वृषभ आदि पर्याय एवं उन शब्दोंके भिन्न-भिन्न प्रयोगोंकी रीति जान लेना ही पर्याप्त नहीं है। कोष, व्याकरण, साहित्य, यमक-अनुप्रास आदिकी अच्छी जानकारी होनेपर भी यदि गायसे परिचय नहीं है तो सब व्यर्थ है। इसी प्रकार जिस विषयका अध्ययन हो, उसका क्रियात्मक, रचनात्मक, प्रयोगात्मक और व्यावहारिक अनुभव भी होना चाहिये। किसीको झाड़ुओंके बहुतसे नाम और आकृतियाँ मालूम हों, परंतु झाड़ू लगाना न आता हो तो उस ज्ञानका क्या महत्त्व है? इसी प्रकार धर्म, ब्रह्म, प्रेम आदि पदार्थोंका भी साक्षात्कार होना चाहिये। केवल पदवाक्य और प्रमाणके ज्ञानसे ही अपनेको कृतकृत्य नहीं मान लेना चाहिये। सारे अध्ययन, अध्यापन, संयम, नियम, जप, तप, धारणा, ध्यान आदि साधन सत्य वस्तुके साक्षात्कारके लिये हैं। यदि इस जीवनमें सत्यका साक्षात्कार नहीं हो पाया तो बहुत बड़ी भूल—जीवनका विनाश समझना चाहिये।

११. ब्रह्मचर्य-रक्षाके लिये छान्दोग्योपनिषद्में छः बातोंपर विशेष बल दिया गया है—

(१) इष्ट अर्थात् अग्निहोत्र, शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपस्या, वेदोंका स्वाध्याय, वेदोक्त आचरणका अनुष्ठान, अतिथि-सेवा और बलिवैश्वदेव।

(२) यज्ञ अर्थात् देवाराधन, अपने हककी वस्तुओंको औरोंके प्रति वितरण, पञ्चभूतोंकी शुद्धि, समष्टिकी सेवा।

(३) मौन—मनमें वासनाओंका स्फुरण न होना, मनोराज्य न होना। आवश्यकतासे अधिक भाषण न करना।

(४) अरण्यायन—शान्त, एकान्त, पवित्र, निर्जन वनमें वास करना।

(५) सत्रायण—सत्संगमें निवास करना।

(६) अनाशकायन—भोजनके सम्बन्धमें एक निश्चित शैली रखना।

१२. शतपथ-ब्राह्मणमें ब्रह्मचारीकी चार शक्तियोंका उल्लेख प्राप्त होता है—

(१) अग्निके समान तेजस्विता।

(२) मृत्युके समान दोषों—दुर्गुणोंके मारणकी शक्तिका होना।

(३) आचार्यके समान दूसरोंको शिक्षा देनेकी शक्तिका विद्यमान रहना।

(४) संसारके किसी भी स्थान, वस्तु, व्यक्ति आदिकी अपेक्षा रखे बिना आत्माराम होकर रहना।

१३. गोपथ आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों, धर्मसूत्रों, गृह्यसूत्रों एवं मन्वादि धर्मसंहिताओंमें सर्वत्र ही ब्रह्मचारियोंके लिये नृत्य, वाद्य, संगीत, नाट्य आदिका निषेध प्राप्त होता है। ललित कलाएँ अन्तस्तलकी सुषुप्त वासनाओंको धीरे-धीरे कुरेदती हैं और उन्हें उकसाती तथा भड़काती हैं। भगवद्विषयक ललित कलाएँ उतनी बाधक नहीं हैं। फिर भी ब्रह्मचारियोंको शृङ्गारसम्बन्धी अभिनय और भावभङ्गिमासे सर्वथा पृथक् रहना चाहिये। रासलीलाके श्रवण-श्रावणके द्वारा कामविजयकी प्रणाली भी शृङ्गार-रसाकृष्ट व्यक्तियोंके लिये ही है। ब्रह्मचारियोंके लिये वह हानिकारक है। ऐसी अवस्थामें नाटक, सिनेमा आदि विकारवर्धक एवं उद्दीपक प्रसंगोंसे पृथक् रहनेमें ही ब्रह्मचारियोंका कल्याण है।

१४. समावर्तन-संस्कारके पूर्व अपने स्वभाव, रुचि, महत्त्वाकांक्षा, योग्यता, स्वहित, परहित आदिका गम्भीर विवेचन कर लेना चाहिये। पूरी सचाईसे इस बातका अनुशीलन करना चाहिये कि हम सांसारिक भोग्य पदार्थोंकी प्राप्तिसे सुखी होते हैं, हमें सुन्दर वस्त्र-आभूषण, भोजन, मान-प्रतिष्ठा, बड़ाई और धन आदिकी प्राप्तिसे सुख होता है अथवा इनके त्यागसे। यदि किञ्चित् भी लौकिक वासना अन्तःकरणमें शेष हो तो त्यागमय आजीवन ब्रह्मचर्यकी प्रतिज्ञा धारण न करके निःसंकोच गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिये और तदनुकूल ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। गृहस्थोचित ब्रह्मचर्यमें निम्नलिखित बातोंका ध्यान रखना चाहिये—

(१) गृहस्थाश्रम भोग भोगनेके लिये नहीं है अपितु भोगवासनाओंको नियन्त्रित करके उन्हें नाश करनेके लिये है। ब्रह्मचर्यमें जैसा शक्तिसंचय, ज्ञानका प्रकाश, तपस्याकी वृद्धि, लौकिक सुख एवं पारमार्थिक सुखकी प्राप्ति है भोगमें उसका लक्षांश भी नहीं है। जैसे फोड़ा होनेपर उसकी मवाद निकलते समय एक प्रकारका सुख होता है,

वैसे ही मनमें विकार या मन्थनकी पीडा होनेपर वीर्यपातसे एक प्रकारका हलकापन अथवा आभासमात्र सुखका अनुभव होता है। जैसे भाँगका नशा उतर जानेपर सुस्ती, कमजोरी और उदासी मालूम पड़ती है, वैसे ही कामावेश शान्त हो जानेपर स्त्री-पुरुषका पारस्परिक संग कोई सुख, स्वाद, विलास नहीं दे पाता है। यह एक प्रकारका रोग, विवशता, पराधीनता और दुःखका मूल है। इसका न होना ही अच्छा है। संयमपर दृष्टि रखते हुए ही भोग करना चाहिये।

(२) एक पुरुषका एक स्त्रीसे और एक स्त्रीका एक ही पुरुषसे संयोग होना चाहिये। मनमें विकार आ जानेसे भी शील, संयम और व्रत भङ्ग हो जाता है और इस प्रकार मनोवैज्ञानिक पतन हो जानेसे जीवन अनियमित, उच्छृङ्खल एवं अधोगामी हो जाता है।

(३) स्त्री-पुरुषके संयोगके सम्बन्धमें अवस्था, शक्ति, समय, स्थान आदिका भी ध्यान रखना चाहिये।

(४) व्यभिचारको प्रोत्साहन देनेवाली गर्भ-निरोधकी प्रणालियोंको कभी काममें नहीं लाना चाहिये। संयम अवश्य रखना चाहिये।

(५) पति-पत्नीको अलग-अलग शयन करना चाहिये।

(६) सम्भव हो तो एक पुत्र उत्पन्न होनेके बाद इस शक्ति-क्षयकारिणी क्रियासे विरत हो जाना चाहिये और वैराग्य हो तो वानप्रस्थ अथवा संन्यास-आश्रममें प्रवेश कर लेना चाहिये अथवा विश्वसेवाके कार्यमें लग जाना चाहिये। यह विश्व ही परमात्माका मूर्तरूप है।

(७) गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी यथाशक्ति स्वार्थत्याग करके विश्वसेवाके आदर्शको पूर्ण करना चाहिये।

१५. आजीवन त्यागमय ब्रह्मचारी-जीवन व्यतीत करना अथवा ब्रह्मचर्याश्रमके बाद संन्यासाश्रममें प्रवेश करना आपत्तिकी बात नहीं है; किंतु इसके पूर्व अपने अधिकार (योग्यता और शक्ति)-का भलीभाँति विचार कर लेना आवश्यक है। केवल तात्कालिक आकांक्षा, रुचि और आवेशसे प्रेरित होकर ऐसा करना बुद्धिमानीकी बात नहीं है। लक्ष्य-प्राप्तिके लिये पूर्ण निश्चय और वज्रकठोर दृढ़ताकी आवश्यकता है। जिसमें इन्द्रियदमन, मनपर विजय, तपस्या, द्वन्द्व-तितिक्षा एवं कष्टसहनमें ही सुखका भाव है, वही त्यागमय जीवनका अधिकारी है। बिना वैराग्य एवं त्यागकी तीव्र भावना हुए आजीवन ब्रह्मचर्यका संकल्प निष्फल ही नहीं, पतनका हेतु भी है। ईश्वर, आचार्य, शास्त्र एवं आत्मदेवकी कृपाका संबल लेकर ही इस मार्गपर अग्रसर होना चाहिये।

१६. आजीवन ब्रह्मचारीके लिये सबसे पहली बात यह है कि वह अपनी एक निष्ठाका निर्णय—निश्चय कर ले। उसे चार निष्ठाओंमेंसे अपने लिये कोई एक चुन लेना चाहिये—

(१) कर्म—यज्ञ-यागादि, वेदोक्त कर्मकाण्ड, अशिक्षा-निवारण, रोग-निवारण, स्वच्छताका प्रचार, लोगोंमें नैतिक जीवनकी ओर रुचि उत्पन्न करना।

(२) उपासना—गायत्री-जप, नाम-जप, देवाराधन, सङ्कीर्तन, कथा-श्रवण, भक्तिके विभिन्न अङ्गोंका अनुष्ठान।

(३) योग—आसन, प्राणायाम आदिके द्वारा चित्तवृत्तियोंके निरोधका अभ्यास।

(४) ज्ञान—श्रवण, मनन, निदिध्यासनके द्वारा आत्मसाक्षात्कारके लिये प्रयत्न।

इन चारोंमेंसे किसी एकको प्रधान और शेषको गौण-रूपसे धारण करना चाहिये। सभी निष्ठाओंमें इन्द्रियसंयम, मनोनिरोध एवं सदाचारयुक्त मृदु व्यवहारकी अपेक्षा है। किसी एक निष्ठाको स्वीकार किये बिना अकर्मण्यता—बेकारी आनेका भय रहता है, जिससे मनमें विकारोंके आ जानेकी सम्भावना रहती है। निकम्मे आदमीका जीवन प्रमादका घर होता है।

१७. ब्रह्मचारीको कामविजयके साथ-ही-साथ अत्यन्त सूक्ष्म और तीक्ष्ण दृष्टिसे अन्य दोषोंपर भी ध्यान रखना चाहिये। काम बड़ा मायावी है। वह तरह-तरहके रूप धारण करके आक्रमण करता रहता है; जैसे—

(क) मोह-ममता—यह मेरा प्रिय व्यक्ति अथवा प्रिय वस्तु है, पहले इस प्रकार सम्बन्ध जोड़कर पीछे भोगबुद्धि उत्पन्न करा देता है।

(ख) लोभ—पहले साधनाकी सुविधा और आवश्यक सामग्रीके छलसे द्रव्य इकट्ठा करा लेता है और पीछे

वासनापूर्तिके लिये उसका उपयोग कराता है।

(ग) क्रोध—पहले अपने आलोचक अथवा निन्दकको अपने मार्गसे हटा देता है और फिर इच्छापूर्तिकी छूट दे देता है।

(घ) मान-प्रतिष्ठा—पहले लोगोंके चित्तपर अपनी धाक जमाकर फिर मनमानी कराता है।

(ङ) मिथ्या अभिमान—अब मेरा चित्त निर्विकार हो चुका है, मैं योगी हूँ, ज्ञानी हूँ, भक्त हूँ, सिद्ध हूँ—ऐसी अन्धता उत्पन्न करके फिर भोगके गढ़ेमें डाल देता है, इत्यादि।

कामके इन मायावी रूपोंसे बचनेके लिये सतत सावधानीकी आवश्यकता है। इसके लिये इन उपायोंपर चलना चाहिये—

(१) किसीसे विशेष हेल-मेल न बढ़ाना, सम्बन्धी एवं परिचितोंके देशमें न रहना और न आना-जाना।

(२) पैसे एवं वस्तुओंका संग्रह न करना।

(३) आलोचकों एवं निन्दकोंको अपना हितैषी समझना और उनकी आलोचनाका आत्मनिरीक्षणमें सदुपयोग करना। कभी-कभी निन्दकोंके द्वारा अपने ऐसे छिपे दोषोंका पता चल जाता है, जिनका ज्ञान स्वयं साधकको भी नहीं रहता है।

(४) अपने ऊपर लोगोंकी विशेष श्रद्धा कभी न कराये। मान-प्रतिष्ठाका अत्यन्त निषेध भी न करे; क्योंकि वह निषेधसे ही बढ़ती है। जहाँतक हो सके स्वयं उससे बचना चाहिये।

(५) किसी प्रकारका अभिमान धारण न करे। अभिमान ही कामका आश्रय है। अभिमानके सहारे ही वह फूलता-फलता है। परिपूर्णतम परब्रह्म परमात्मामें द्वैत नामकी कोई वस्तु ही नहीं है, फिर कौन किसका अभिमान करे! (क्रमश:)

स्वस्थ तन एवं स्वस्थ मन

(ब्रह्मलीन योगिराज श्रीदेवराहा बाबाजीके अमृत वचन)

मनको प्रसन्न एवं स्वस्थ रखनेका पहला उपाय है—शरीरको स्वस्थ रखना। शरीर वह रथ है, जिसपर बैठकर जीवनकी यात्रा करनी होती है। शरीर एक चलता-फिरता देव-मन्दिर है, जिसमें स्वयं भगवान् अपनी विभूतियोंके साथ विराजते हैं। अत: मनकी निर्मलता और बुद्धिकी शुद्धताका साधन शरीरसे प्रारम्भ होता है। शरीर तो एक साधनमात्र है, जिसकी सहायतासे परम साध्यको प्राप्त करनेके लिये योग, तप, जप आदि किया जाता है। इस साधनरूपी शरीरको स्वस्थ और पवित्र रखनेसे ही योगकी शुरुआत होती है।

मांसाहार, शराब, धूम्रपान आदि—ये सभी रोगोंकी जड़ हैं। सात्त्विक भोजनसे रक्त शुद्ध रहता है। तामसी भोजनसे शरीर आलसी और रोगी रहता है। सात्त्विक भोजनसे गरीबी भी दूर रहती है तथा जीवनमें संतोष और प्रसन्नता आती है। अमीर आदमी यदि व्यसनोंमें फँसा रहे, तामसी वृत्ति रखे तो दरिद्रता सहज आयेगी। अपनी वृत्तियोंकी संतुष्टिके लिये वह पाप करेगा, धोखा देगा और फलस्वरूप दु:खका भागी होगा। दु:ख नाना प्रकारके रोगोंके रूपमें भी कष्ट देता है। प्रकृतिके निकट रहो। शुद्ध मिट्टीमें भी औषधिके गुण हैं। बच्चोंका शुद्ध मिट्टीमें खेलना बुरा नहीं है। नेत्र-ज्योतिकी रक्षाके लिये सबेरे नंगे पाँव घासपर टहलो। दर्दके स्थानपर किसीके दाहिने पैरका अँगूठा लगवाओ तो आराम पहुँचेगा। दाहिने पाँवके अँगूठेसे विद्युत्-तरङ्गें विशेष रूपसे प्रवाहित होती हैं। इसलिये महान् पुरुषोंका चरणामृत लिया जाता है। आसनोंकी सिद्धिसे शरीर नीरोग रहता है। बद्धपद्मासन स्वास्थ्यके लिये लाभप्रद है।

सूर्यकी किरणोंमें औषधिके प्रचुर गुण हैं। पहले समयमें कुएँ चौड़े होते थे, जिससे सूर्य तथा चन्द्रमाकी किरणें पानीतक पहुँच सकें। जिस पानी या भोजनपर सूर्य अथवा चन्द्रमाकी किरणें पड़ेंगी, वह अपेक्षाकृत अधिक स्वादिष्ट तथा मीठा होगा।

भोजन या दूध-दही तब सेवन करे, जब दायाँ स्वर चल रहा हो। जल-ग्रहण करनेके समय बायाँ स्वर चलना

चाहिये। इसके विपरीत आचरणसे काया रोगी होती है—

दहिने स्वर भोजन करै, बाँयें पीवै नीर।
ऐसा संयम जब करै, सुखी रहै शरीर॥
बाँयें स्वर भोजन करै, दहिने पीवे नीर।
दस दिन भूला यों करै, पावै रोग शरीर॥

सात्त्विक भोजन-पानसे और सादे वस्त्र धारण करनेसे बुद्धि शुद्ध रहती है। सात्त्विक जीवनसे शान्ति मिलती है। तामसिक जीवनसे बेचैनी रहती है, उद्वेग रहता है तथा जलन और ईर्ष्या होती है। इसी कारण बीड़ी-सिगरेट आदि मादक वस्तुओंका उपयोग नहीं करना चाहिये। इनसे वृत्तियाँ तामसिक होती हैं। इनके सेवनसे बुरी आदतें पड़ जाती हैं। तंबाकू खाने-पीनेसे तेज नष्ट हो जाता है। कहा गया है कि युद्धमें कामधेनुके कान कटनेसे जहाँ रक्त गिरा वहीं तंबाकू उगा और पनपा। अत: मादक द्रव्योंके सेवनसे आरोग्यकामी मनुष्यको सदा बचना चाहिये। स्वस्थ विचार स्वस्थ मनसे उत्पन्न होता है, स्वस्थ मन स्वस्थ शरीरमें रहता है और उसीका शरीर स्वस्थ रहता है, जिसकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं। इन्द्रियोंको वशमें रखनेके लिये प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्तमें जगकर परमात्माका एक घंटा नियमसे ध्यान किया जाय तो कल्याण अवश्य होगा।

(प्रेषक—श्रीमदनजी शर्मा)

‘धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्’

(गोलोकवासी संत पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज)

जबतक मैंने आयुर्वेदके ग्रन्थोंका अध्ययन नहीं किया था, तबतक मैं यही समझता था कि उनमें रोगोंका निदान तथा सोंठ, मिर्च, पीपल, हर्रा, बहेड़ा, आमलादि ओषधियाँ ही लिखी होंगी। किंतु जब मैंने आर्ष आयुर्वेदिक ग्रन्थोंका अध्ययन किया, तब मुझे पता चला कि यह तो मोक्ष-मार्गका शासन करनेवाला, शिक्षा देनेवाला शास्त्र है। इसका एकमात्र उद्देश्य रोगोंसे छुटकारा करना ही नहीं है, अपितु इसका मुख्य उद्देश्य तो मोक्ष प्राप्त करनेका साधन बताना है। शास्त्रका अर्थ ही है—**(शिष्यते अनेन इति शास्त्रम्)** जो हमें मोक्ष-मार्ग सिखाये। जैसे सांख्यशास्त्र कहता है, प्रकृति-पुरुषके विवेकसे मोक्ष होता है। योगशास्त्र कहता है, योगद्वारा समाधि प्राप्त करनेसे मोक्ष मिलता है। वेदान्तशास्त्र कहता है—ब्रह्मज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। उसी प्रकार आयुर्वेदशास्त्र कहता है—**‘धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्’** —धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-प्राप्तिमें श्रेष्ठ मूलकारण शरीरका नीरोग होना ही है। स्वस्थ शरीरमें ही स्वस्थ मन रहता है, तभी ब्रह्मका चिन्तन सम्भव है। जैसे पैरमें यदि काँटा गड़ जाय तो सब समय उसीमें मन लगा रहता है वैसे ही रोगग्रस्त शरीरका मन रोगकी चिन्तामें लगा रहता है। वह ब्रह्म-चिन्तन कैसे करेगा? चरकने दार्शनिक ढंगसे प्रकृति-पुरुषका बड़ा विचार किया है और प्राय: वे सांख्य-शास्त्रके ही सिद्धान्तके पोषक हैं। हमारे यहाँ रोगोंका नाश केवल विषयोंके भोगके ही लिये नहीं है। विषयोंका भलीभाँति भोग भी स्वस्थ पुरुष ही कर सकता है। आयुर्वेद तो स्वास्थ्य-लाभ इसीलिये कराना चाहता है, जिससे हम भलीभाँति मोक्षमार्गका चिन्तन कर सकें। इसके लिये सबसे पहले शरीर स्वस्थ होना चाहिये। स्वस्थ काया होनेपर ही अन्त:करण विशुद्ध बन सकता है।

यह शरीर व्याधियोंका घर है—**शरीरं व्याधिमन्दिरम्।** व्याधि होती है पूर्वजन्मोंके पापोंके कारण—**‘पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते।’** पूर्वजन्मके पाप ही रोग बनकर मनुष्योंको पीडा देते हैं। जो ब्रह्मवेत्ता ऋषिगण पापरहित—निष्कल्मष होते थे, वे जरा, रोग तथा मृत्युसे रहित होते थे।

रोगोंके भेद—

शास्त्रोंमें रोग चार प्रकारके बताये गये हैं—१-स्वाभाविक, २-आगन्तुक, ३-मानसिक और ४-कायिक।

१-स्वाभाविक रोग वे कहलाते हैं, जो शरीरमें स्वभावसे ही होते हैं, जैसे प्यास, भूख भी एक प्रकारके रोग ही हैं। शरीरधारियोंको भूख, प्यास, निद्रा, जागना, मृत्यु—ये स्वाभाविक होते हैं। इनकी औषधि भी है। भूखकी औषधि भोजन है, प्यासकी औषधि पानी या पेय पदार्थ है, निद्राकी औषधि सोना है और मृत्युकी कोई

औषधि नहीं है।

एक स्वाभाविक रोग और है, जैसे कोई जन्मसे ही अन्धा उत्पन्न होता है, किसीका कोई अङ्ग विकृत होकर उत्पन्न होता है, ये सब स्वाभाविक रोगोंके अन्तर्गत आते हैं।

२-दूसरे हैं आगन्तुक रोग, जैसे किसी बैलने सींग मार दिया, किसी पशुने लात मार दी, किसी विषैले कीड़ेने काट लिया अथवा किसी रोगसे आँख फूट गयी या किसी बाहरी कारणसे अङ्ग-भङ्ग हो गया—ये सब आगन्तुक रोग हैं।

३-तीसरा है मानसिक रोग, जो मनके द्वारा शरीरको क्लेश देता है। जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, भय, अहंकार, दीनता, पिशुनता, विवाद तथा इसी प्रकार मनमें उठनेवाले अन्य विकार—ये सब मानसिक रोग ही हैं। कोई-कोई उन्माद, अपस्मार, मूर्च्छा, भ्रम और तम आदि रोगोंकी गणना भी मानस रोगोंमें ही करते हैं।

४-कायिक रोग वह है जो त्रिदोषोंके न्यूनाधिक्यसे होता है, जैसे ज्वर, पाण्डुरोग आदि-आदि।

आप यथेच्छाचार करेंगे, मिथ्या आहार-विहार करेंगे तो धातुओंमें विषमता आ जायगी। आमाशयमें दोष एकत्रित हो जायँगे, वे अनेक रोगोंको उत्पन्न करेंगे और आपकी अकाल-मृत्यु हो जायगी। रसायनके सेवनसे बृहद् विवर मुखसे लेकर गुदातक विशुद्ध बन जायगा, इससे आप पूरी आयु सौ वर्षोंतक जीवित रह सकेंगे। शरीरमें जब वात, पित्तादि दोष बढ़ जाते हैं, तब स्नायुओंमें—नसोंमें मल भर जाता है, इससे सम्मोहन हो जाता है, स्मृति नष्ट हो जाती है। रसायन-सेवनसे नाडियोंकी शुद्धि हो जाती है, इससे स्मृति-भ्रंश नहीं होता। वृद्धावस्थामें, यहाँतक कि मरणावस्थामें भी स्मृति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है।

रसायन-सेवन किस अवस्थामें करना चाहिये—साठ वर्षकी अवस्थाके पश्चात् रसायन-सेवनसे विशेष लाभ नहीं मिलता। कारण यह है कि वात-पित्तादि दोष अन्य धातुसे मिलकर आँतोंमें अपना स्थायी घर बना लेते हैं। उन्हें गलाना कठिन हो जाता है। इसलिये रसायन-सेवन या तो युवावस्थाके आरम्भ होनेपर अथवा युवावस्थाके मध्यमें चालीस वर्षकी अवस्थामें करना चाहिये; क्योंकि चालीस-पचास वर्षके पश्चात् धातुओंका क्षय होना आरम्भ हो जाता है।

आयुर्वेदशास्त्र रसायन-सेवन अर्थात् औषधि-चिकित्सापर विशेष बल देता है।

आयुर्वेदशास्त्र क्या है?

पहले आयु शब्दपर ही विचार करें। इस शरीररूपी यन्त्रको सुचारुरूपसे रखते हुए कौन सञ्चालन करता है? उस शक्तिको प्राणशक्ति कहते हैं। इसीलिये उपनिषदोंमें प्राणको ब्रह्म कहा है। प्राण शरीरके कण-कणमें व्याप्त है, शरीरके कर्णेन्द्रियादि तो सो भी जाते हैं, विश्राम कर लेते हैं, किंतु यह प्राणशक्ति कभी भी न तो सोती है न विश्राम ही करती है। रात-दिन अनवरतरूपमें कार्य करती ही रहती है, चलती ही रहती है—'**चरैवेति-चरैवेति**' यही इसका मूल मन्त्र है। जबतक प्राणशक्ति चलती रहती है, तभीतक प्राणियोंकी आयु रहती है। जब यह इस शरीरमें काम करना बंद कर देती है, तब आयु समाप्त हो जाती है। प्राण जबतक कार्य करते रहते हैं तभीतक जीवन है, प्राणी तभीतक जीवित कहलाता है; प्राणशक्तिके कार्य बंद करनेपर वह मृतक कहलाने लगता है। इसलिये आयुको—प्राण-शक्तिको जो यथावत् रखनेका ज्ञान कराये वही आयुर्वेद है। शरीरमें प्राण ही तो सब कुछ हैं, प्राण ही शरीरकी रक्षा करते हैं, उसे आधि-व्याधियोंसे बचाये रखनेका प्रयत्न करते हैं। प्राणोंको स्वस्थ कैसे रखा जाय, इसीकी शिक्षा आयुर्वेद देता है। प्राणोंका हरण करनेवाले, उन्हें क्षति पहुँचानेवाले रोग हैं। रोगोंकी उत्पत्ति रागसे, अश्रुओंसे, शोकसे हुई है। अतः रोग शोकको उत्पन्न करनेवाले हैं, अन्तःकरणके शोकको आधि कहते हैं, काया—देहके दुःख-शोकको व्याधि कहते हैं। आधि और व्याधि दोनों ही प्राणोंको हानि पहुँचानेवाले हैं, अतः आयुर्वेद दोनोंकी चिकित्सा करके शरीरको स्वस्थ रखनेका उपाय बताता है।

स्वस्थ किसे कहते हैं

स्वका अर्थ है आत्मा। आत्मा शब्द देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, जीवात्मा तथा परमात्मा—इन सबके लिये प्रयुक्त होता है। जब हम किसी व्याधिसे ग्रस्त रहते हैं तो व्याधिग्रस्त या रोगग्रस्त कहलाते हैं। उस समय हम स्वस्थ नहीं रहते। स्वस्थका अर्थ है नीरोग। जो अपने-आपमें—सुखस्वरूप आत्मामें स्थित रहे वही स्वस्थ कहलाता है। (**स्वस्मिन् तिष्ठतीति स्वस्थः**) कैसे जाने कि ये स्वस्थ हैं? जिसके वात, पित्त और कफ—ये दोष सम हों इनमें विषमता न

आ जाय। आवश्यकतासे अधिक वायु, पित्त, कफ न बढ़ जाय। यदि एक अधिक कुपित होकर बढ़ जाता है तो शेष दो घट जाते हैं, जैसे शरीरमें कफ बढ़ जाय तो वात और पित्त घट जायँगे। इसी प्रकार पित्त बढ़नेपर वात और कफ घट जायँगे। अत: स्वस्थताके लिये तीनोंका सम होना आवश्यक है। तीनों ही दोष कुपित हो जायँ तो त्रिदोष हो जाता है, वह प्राणी फिर बच नहीं सकता। अत: तीनों दोष सम होने चाहिये। अग्नि भी तीन प्रकारकी होती है। मन्दाग्नि, तीव्राग्नि और समाग्नि—एक चौथी हविषाग्नि भी होती है। उसमें भूख कभी शान्त ही नहीं होती चाहे जितना खाते जाओ। मन्दाग्निमें भूख नहीं लगती, तीव्राग्निमें आवश्यकतासे अधिक भूख लगती है। अत: अग्नि सम होनी चाहिये। धातु भी सम रहनी चाहिये। रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, मेद और शुक्र—इनमेंसे कोई भी आवश्यकतासे अधिक बढ़ जायँगे तो रोग पैदा करेंगे। अधिक क्षय हो जायँगे तो भी रोग उत्पन्न करेंगे। अत: धातुएँ भी सम होनी चाहिये। मलकी क्रिया भी सम होनी चाहिये। अधिक मल निकलेगा या कम निकलेगा तो भी रोग होंगे। प्राण विशेषकर रक्तमें, वीर्यमें और मलमें रहते हैं। इन तीनोंके क्षयका ही नाम राजयक्ष्मा है। इन्द्रिय और मन प्रफुल्लित तथा प्रसन्न रहें तो ऐसे प्राणीको ही स्वस्थ कहते हैं।[1]

स्वस्थ पुरुषकी छ: पहिचान है—(१) खूब खुलकर भूख लगे, (२) जो खाय वह भली प्रकार पच जाय, (३) समयपर बँधा हुआ चिकना एक बारमें मल निकल जाय, पेट हलका हो जाय, (४) शुद्ध डकार आवे, (५) अपानवायु शब्द तथा दुर्गन्धरहित सरलतासे निकल जाय और (६) मन प्रसन्न रहे, निश्चिन्त रहे। ये छ: लक्षण स्वस्थताके हैं। आयुर्वेदशास्त्रका उद्देश्य रोगोंको शान्त करना नहीं है। उसका मुख्य उद्देश्य तो अन्त:करणको शुद्ध बनाकर मोक्ष प्रदान करना है। शुद्धान्त:करण शुद्ध शरीरमें—नीरोग कायामें ही रह सकता है, अत: रोगोंका निदान और उनकी चिकित्सा मोक्षके साधनमात्र हैं। इसीलिये कहा है—

'**धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्**' —धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षके लिये शरीरको नीरोग रखना यह मुख्य कारण है। नीरोग शरीरसे ही सभी पुरुषार्थ प्राप्त किये जा सकते हैं।[2]

भवरोगसे मुक्तिका उपाय

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय संत स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

१. आत्म-निरीक्षण करना अर्थात् प्राप्त विवेकके प्रकाशमें अपने दोषोंको देखना।

२. की हुई भूलको पुन: न दोहरानेका व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक भगवान्‌से प्रार्थना करना।

३. विचारका प्रयोग अपनेपर और विश्वासका दूसरोंपर करना अर्थात् न्याय अपनेपर और प्रेम तथा क्षमा अन्यपर करना।

४. जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन और सत्यकी खोजद्वारा अपना निर्माण।

५. दूसरोंके कर्तव्यको अपना अधिकार, दूसरोंकी उदारताको अपना गुण और दूसरोंकी निर्बलताको अपना बल न मानना।

६. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावनाके अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव अर्थात् कर्मकी भिन्नता होनेपर भी स्नेहकी एकता बनाये रखना।

७. निकटवर्ती जन-समाजकी यथाशक्ति क्रियात्मक रूपसे सेवा करना।

८. शारीरिक हितकी दृष्टिसे आहार-विहारमें संयम तथा दैनिक कार्योंमें स्वावलम्बन रखना।

९. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहंको अभिमान-शून्य करके अपनेको सुन्दर बनाना।

१०. सिक्केसे वस्तु, वस्तुसे व्यक्ति, व्यक्तिसे विवेक तथा विवेकसे सत्यको अधिक महत्त्व देना।

११. व्यर्थ चिन्तनके त्याग तथा वर्तमानके सदुपयोगद्वारा भविष्यको उज्ज्वल बनाना।

प्रेषक—एक साधक

१-समदोष: समाग्निश्च समधातुमलक्रिय:। प्रसन्नात्मेन्द्रियमन: स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

२-संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)-से प्रकाशित 'कायाकल्प और कल्प-चिकित्सा' से संकलित।

ब्रह्मचर्य

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

ब्रह्मचर्यका यौगिक अर्थ है ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये वेदोंका अध्ययन करना। प्राचीन कालमें छात्रगण ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये गुरुके यहाँ रहकर सावधानीके साथ वीर्यकी रक्षा करते हुए वेदाध्ययन करते थे। इसलिये धीरे-धीरे 'ब्रह्मचर्य' शब्द वीर्यरक्षाके अर्थमें रूढ़ हो गया। आज हमें इसी वीर्यरक्षाके सम्बन्धमें कुछ विचार करना है। वीर्यरक्षा ही जीवन है और वीर्यका नाश ही मृत्यु है। वीर्यरक्षाके प्रभावसे ही प्राचीन कालके लोग दीर्घजीवी, नीरोग, हृष्ट-पुष्ट, बलवान्, बुद्धिमान्, तेजस्वी, शूरवीर और दृढ़संकल्प होते थे। वीर्यरक्षाके कारण ही वे शीत, आतप, वर्षा आदिको सहकर नाना प्रकारके तप करनेमें समर्थ होते थे। ब्रह्मचर्यके बलसे ही वे प्राणवायुको रोककर शरीर और मनकी शुद्धिके द्वारा नाना प्रकारके योग-साधनोंमें सफलता प्राप्त करते थे। ब्रह्मचर्यके बलसे ही वे थोड़े ही समयमें नाना प्रकारकी विद्याओंको सीखकर अपने ज्ञानके द्वारा अपना और जगत्‌का लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकारका कल्याण करनेमें समर्थ होते थे। शरीरमें सार वस्तु वीर्य ही है। इसीके नाशसे आज हमारा देश रसातलको पहुँच गया है। ब्रह्मचर्यके नाशके कारण ही आज हम लोग नाना प्रकारकी बीमारियोंके शिकार हो रहे हैं, थोड़ी ही अवस्थामें कालके गालमें जा रहे हैं। इसीके कारण आज हम लोग अपने बल, तेज, वीरता और आत्मसम्मानको खोकर पराधीनताकी बेड़ीमें जकड़े हुए हैं और जो हमारा देश किसी समय विश्वका सिरमौर और सभ्यताका उद्गमस्थान बना हुआ था, वही आज दूसरोंके द्वारा लाञ्छित और पददलित हो रहा है। विद्या-बुद्धि, बल-वीर्य, कला-कौशल—सबमें आज हम पिछड़े हुए हैं। इसीके कारण आज हम चरित्रसे भी गिर गये हैं। सारांश यह है कि किसी भी बातको लेकर आज हम संसारके सामने अपना मस्तक ऊँचा नहीं कर सकते। वीर्यका नाश ही हमारी इस गिरी हुई दशाका प्रधान कारण मालूम होता है। वीर्यके नाशसे शरीर, बल, तेज, बुद्धि, धन, मान, लोक, परलोक—सबकी हानि होती है। परमात्माकी प्राप्ति तो वीर्यकी रक्षा न करनेवालेसे कोसों दूर रहती है।

ब्रह्मचर्यके बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। रोगसे मुक्त होनेके लिये, स्वास्थ्य-लाभके लिये, बल-बुद्धिके विकासके लिये, विद्याभ्यासके लिये तथा योगाभ्यासके लिये तो ब्रह्मचर्यकी बड़ी भारी आवश्यकता है। उत्तम संतानकी प्राप्ति, स्वर्गकी प्राप्ति, सिद्धियोंकी प्राप्ति, अन्तःकरणकी शुद्धि तथा परमात्माकी प्राप्ति—ब्रह्मचर्यसे सब कुछ सम्भव है और ब्रह्मचर्यके बिना कुछ भी नहीं हो सकता। सांख्ययोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, राजयोग, हठयोग—सभी साधनोंमें ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता होती है। अतः लोक-परलोकमें अपना हित चाहनेवालेको बड़ी सावधानी एवं तत्परताके साथ वीर्यरक्षाके लिये चेष्टा करनी चाहिये।

सब प्रकारके मैथुनके त्यागका नाम ही ब्रह्मचर्य है। मैथुनके निम्नलिखित प्रकार शास्त्रोंमें कहे गये हैं—

(१) **स्मरण**—किसी सुन्दर युवती स्त्रीके रूप-लावण्य अथवा हाव, भाव, कटाक्ष एवं शृङ्गारका स्मरण करना, कुत्सित पुरुषोंकी कुत्सित क्रियाओंका स्मरण करना, अपने द्वारा पूर्वमें घटी हुई मैथुन आदि क्रियाका स्मरण करना, भविष्यमें किसी स्त्रीके साथ मैथुन करनेका संकल्प अथवा भावना करना, माला, चन्दन, इत्र, फुलेल, लवेंडर आदि कामोद्दीपक एवं शृङ्गारके पदार्थोंका स्मरण करना, पूर्वमें देखे हुए किसी सुन्दर स्त्री अथवा बालकके चित्रका या अश्लील चित्रका स्मरण करना—ये सभी मानसिक मैथुनके अन्तर्गत हैं। इनसे वीर्यका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपमें नाश होता है और मनपर तो बुरा प्रभाव पड़ता ही है। मन खराब होनेसे आगे चलकर वैसी क्रिया भी घट सकती है। इसलिये सर्वाङ्गमें ब्रह्मचर्यका पालन करनेवालेको चाहिये कि वह उक्त सभी प्रकारके मानसिक मैथुनका त्याग कर दे, जिससे मनमें कामोद्दीपन हो ऐसा कोई संकल्प ही न करे और यदि हो जाय तो उसका तत्काल विवेक एवं विचारके द्वारा त्याग कर दे।

(२) **श्रवण**—गंदे तथा कामोद्दीपक एवं शृङ्गार-

रसके गानोंको सुनना, शृङ्गार-रसका गद्य-पद्यात्मक वर्णन सुनना, स्त्रियोंके रूप-लावण्य तथा अङ्गोंका वर्णन सुनना, उनके हाव, भाव, कटाक्षका वर्णन सुनना, कामविषयक बातें सुनना आदि—ये सभी श्रवणरूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह उक्त सभी प्रकारके श्रवणका त्याग कर दे।

(३) **कीर्तन**—अश्लील बातोंका कथन, शृङ्गार-रसका वर्णन, स्त्रियोंके रूप-लावण्य, यौवन एवं शृङ्गारकी प्रशंसा तथा उनके हाव, भाव, कटाक्ष आदिका वर्णन, विलासिताका वर्णन, कामोद्दीपक अथवा गंदे गीत गाना तथा ऐसे साहित्यको स्वयं पढ़ना और दूसरोंको सुनाना एवं कथा आदिमें ऐसे प्रसङ्गोंको विस्तारके साथ कहना—ये सभी कीर्तनरूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह इन सबका त्याग कर दे।

(४) **प्रेक्षण**—स्त्रियोंके रूप-लावण्य, शृङ्गार तथा उनके अङ्गोंकी रचनाको देखना, किसी सुन्दरी स्त्री अथवा सुन्दर बालकके रूप या चित्रको देखना, नाटक-सिनेमा देखना, कामोद्दीपक वस्तुओं तथा सजावटके सामानको देखना, दर्पण आदिमें अपना रूप तथा शृङ्गार देखना—यह सभी प्रेक्षणरूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह जान-बूझकर तो इन वस्तुओंको देखे ही नहीं; यदि भूलसे इनपर दृष्टि पड़ जाय तो इन्हें स्वप्नवत्, मायामय, नाशवान् एवं दुःखरूप समझकर तुरंत इनपरसे दृष्टिको हटा ले, दृष्टिको इनपर ठहरने न दे।

(५) **केलि**—स्त्रियोंके साथ हँसी-मजाक करना, नाचना-गाना, आमोद-प्रमोदके लिये क्लब वगैरहमें जाना, जलविहार करना, फाग खेलना, गंदी चेष्टाएँ करना, स्त्रीसङ्ग करना आदि—ये सभी केलिरूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

(६) **शृङ्गार**—अपनेको सुन्दर दिखलानेके लिये बाल सँवारना, कंघी करना, काकुल रखना, शरीरको वस्त्राभूषणादिसे सजाना, इत्र, फुलेल, लवेंडर आदिका व्यवहार करना, फूलोंकी माला धारण करना, अङ्गराग एवं सुरमा लगाना, उबटन करना, साबुन-तेल, पाउडर लगाना, दाँतोंमें मिस्सी लगाना, दाँतोंमें सोना जड़वाना, शौकके लिये बिना आवश्यकताके चश्मा लगाना, होठ लाल करनेके लिये पान खाना—यह सभी शृङ्गारके अन्तर्गत है। दूसरोंके चित्तको आकर्षण करनेके उद्देश्यसे किया हुआ यह सभी शृङ्गार कामोद्दीपक, अतएव मैथुनका अङ्ग होनेके कारण ब्रह्मचारीके लिये सर्वथा त्याज्य है। कुमारी कन्याओं, बालकों, विधवाओं, संन्यासियों एवं वानप्रस्थोंको तो उक्त सभी प्रकारके शृङ्गारसे सर्वथा बचना चाहिये। विवाहित स्त्री-पुरुषोंको भी ऋतुकालमें सहवासके समयके अतिरिक्त और समयमें इन सभी शृङ्गारोंसे यथासम्भव बचना चाहिये।

(७) **गुह्यभाषण**—स्त्रियोंके साथ एकान्तमें अश्लील बातें करना, उनके रूप-लावण्य, यौवन एवं शृङ्गारकी प्रशंसा करना, हँसी-मजाक करना—यह सभी गुह्यभाषणरूप मैथुनके अन्तर्गत है, अतएव ब्रह्मचारीके लिये सर्वथा त्याज्य है।

(८) **स्पर्श**—कामबुद्धिसे किसी स्त्री अथवा बालकका स्पर्श, चुम्बन तथा आलिङ्गन करना, कामोद्दीपक पदार्थोंका स्पर्श करना आदि यह सभी स्पर्शरूप मैथुनके अन्तर्गत है, अतएव ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवालेके लिये त्याज्य है।

उपर्युक्त बातें पुरुषोंको लक्ष्यमें रखकर ही कही गयी हैं। स्त्रियोंको भी पुरुषोंके सम्बन्धमें यही बात समझनी चाहिये। पुरुषोंको परस्त्रीके साथ और स्त्रियोंको परपुरुषके साथ तो इन आठों प्रकारके मैथुनका त्याग हर हालतमें करना ही चाहिये। ऐसा न करनेवाले महान् पापके भागी होते हैं और इस लोक तथा परलोकमें महान् दुःख भोगते हैं। गृहस्थोंको अपनी विवाहिता पत्नीके साथ भी ऋतुकालकी अनिन्दित रात्रियोंको छोड़कर शेष समयमें उक्त आठों प्रकारके मैथुनसे बचना चाहिये। ऐसा करनेवाले गृहस्थ होते हुए भी ब्रह्मचारी हैं। बाकी तीन आश्रमवालों तथा विधवा स्त्रियोंके लिये तो सभी अवस्थाओंमें उक्त आठों प्रकारके मैथुनका त्याग सर्वथा अनिवार्य है।

परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे किये गये उपर्युक्त ब्रह्मचर्यके पालनमात्रसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है, यह बात भगवान् श्रीकृष्णने गीताके आठवें अध्यायके ११वें श्लोकमें कही है। भगवान् कहते हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

'वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपमें कहूँगा।'

कठोपनिषद्में भी इस श्लोकसे मिलता-जुलता मन्त्र आया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(१।२।१५)

'सारे वेद जिस पदका वर्णन करते हैं,समस्त तपोंको जिसकी प्राप्तिका साधन बतलाते हैं तथा जिसकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदको मैं तुम्हें संक्षेपसे बताता हूँ—'ओम्' यही वह पद है।'

उक्त दोनों ही मन्त्रोंमें परमपदकी इच्छासे ब्रह्मचर्यके पालनकी बात आयी है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे किये गये ब्रह्मचर्यके पालनमात्रसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है। क्षत्रियकुल-चूडामणि वीरवर भीष्मकी जो इतनी महिमा है, वह उनके अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रतको लेकर ही है। इसीके कारण उनका 'भीष्म' नाम पड़ा और इसीके प्रतापसे उन्हें अपने पिता शान्तनुसे इच्छामृत्युका वरदान मिला, जिसके कारण वे संसारमें अजेय हो गये। यही कारण था कि वे सहस्रबाहु-जैसे अप्रतिम योद्धाकी भुजाओंका छेदन करनेवाले तथा इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय कर देनेवाले महाप्रतापी परशुरामसे भी नहीं हारे। इतना ही नहीं, परात्पर भगवान् श्रीकृष्णको भी इनके कारण महाभारतयुद्धमें शस्त्र ग्रहण करना पड़ा। उनकी यह सब महिमा ब्रह्मचर्यके ही कारण थी। वे भगवान्के अनन्य भक्त, आदर्श पितृभक्त तथा महान् ज्ञानी एवं शास्त्रोंके ज्ञाता भी थे; परंतु उनकी महिमाका प्रधान कारण उनका आदर्श ब्रह्मचर्य ही था। इसीके कारण वे अपने अस्त्रविद्याके गुरु भगवान् परशुरामके कोपभाजन हुए, परंतु विवाह न करनेका अपना हठ नहीं छोड़ा। धन्य ब्रह्मचर्य! भक्तश्रेष्ठ हनुमान्, सनकादि मुनीश्वर,महामुनि शुकदेव तथा बालखिल्यादि ऋषि भी अपने ब्रह्मचर्यके लिये प्रसिद्ध हैं।

ब्रह्मचर्यकी रक्षासे लाभ और उसके नाशसे हानि

ब्रह्मचर्यकी रक्षासे शरीरमें बल, तेज, उत्साह एवं ओजकी वृद्धि होती है, शीत, उष्ण, पीडा आदि सहन करनेकी शक्ति आती है, अधिक परिश्रम करनेपर भी थकावट कम आती है, प्राणवायुको रोकनेकी शक्ति आती है, शरीरमें फुर्ती एवं चेतनता रहती है, आलस्य तथा तन्द्रा कम आती है, बीमारियोंके आक्रमणको रोकनेकी शक्ति आती है, मन प्रसन्न रहता है, कार्य करनेकी क्षमता प्रचुरमात्रामें रहती है, दूसरेके मनपर प्रभाव डालनेकी शक्ति आती है, संतान दीर्घायु, बलिष्ठ एवं स्वस्थ होती है, इन्द्रियाँ सबल रहती हैं, शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुदृढ़ रहते हैं, आयु बढ़ती है, वृद्धावस्था जल्दी नहीं आती, शरीर स्वस्थ एवं हलका रहता है, स्मरणशक्ति बढ़ती है, बुद्धि तीव्र होती है, मन बलवान् होता है, कायरता नहीं आती, कर्तव्यकर्म करनेमें अनुत्साह नहीं होता, बड़ी-से-बड़ी विपत्ति आनेपर भी धैर्य नहीं छूटता, कठिनाइयों एवं विघ्न-बाधाओंका वीरतापूर्वक सामना करनेकी शक्ति आती है, धर्मपर दृढ़ आस्था होती है, अन्तःकरण शुद्ध रहता है, आत्मसम्मानका भाव बढ़ता है, दुर्बलोंको सतानेकी प्रवृत्ति कम होती है, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदिके भाव कम होते हैं, क्षमाका भाव बढ़ता है, दूसरोंके प्रति सहिष्णुता तथा सहानुभूति बढ़ती है, दूसरोंका कष्ट दूर करने तथा दीन-दुःखियोंकी सेवा करनेका भाव बढ़ता है, सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, वीर्यमें अमोघता आती है, परस्त्रीके प्रति मातृभाव जाग्रत् होता है, नास्तिकता तथा निराशाके भाव कम होते हैं; असफलतामें भी विषाद नहीं होता, सबके प्रति प्रेम एवं सद्भाव रहता है तथा सबसे बढ़कर भगवत्प्राप्तिकी योग्यता आती है, जो

मनुष्य-जीवनका चरम फल है, जिसके लिये यह मनुष्यदेह हमें मिला है।

इसके विपरीत ब्रह्मचर्यके नाशसे मनुष्य नाना प्रकारकी बीमारियोंका शिकार हो जाता है, शरीर खोखला हो जाता है, थोड़ा-सा भी परिश्रम अथवा कष्ट सहन नहीं होता, शीत, उष्ण आदिका प्रभाव शरीरपर बहुत जल्दी होता है, स्मरणशक्ति कमजोर हो जाती है, संतान उत्पन्न करनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है, संतान होती भी है तो दुर्बल एवं अल्पायु होती है, मन अत्यन्त दुर्बल हो जाता है, संकल्पशक्ति कमजोर हो जाती है, स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, जरा भी प्रतिकूलता सहन नहीं होती, आत्मविश्वास कम हो जाता है, काम करनेमें उत्साह नहीं रहता, शरीरमें आलस्य छाया रहता है, चित्त सदा सशंकित रहता है, मनमें विषाद छाया रहता है, कोई भी नया काम हाथमें लेनेमें भय मालूम होता है, थोड़े-से भी मानसिक परिश्रमसे दिमागमें थकान आ जाती है, बुद्धि मन्द हो जाती है, अधिक सोचनेकी शक्ति नहीं रहती, असमयमें ही वृद्धावस्था आ घेरती है और थोड़ी ही अवस्थामें मनुष्य कालके गालमें चला जाता है, चित्त स्थिर नहीं हो पाता, मन और इन्द्रियाँ वशमें नहीं हो पातीं और मनुष्य भगवत्प्राप्तिके मार्गसे कोसों दूर हट जाता है। वह न इस लोकमें सुखी रहता है और न परलोकमें ही। ऐसी अवस्थामें मनुष्यको चाहिये कि बड़ी सावधानीसे वीर्यकी रक्षा करे। वीर्यरक्षा ही जीवन है और वीर्यनाश ही मृत्यु है, इस बातको सदा स्मरण रखे। गृहस्थाश्रममें भी केवल संतानोत्पादनके उद्देश्यसे ऋतुकालमें अधिक-से-अधिक महीनेमें दो बार स्त्रीसङ्ग करे।

ब्रह्मचर्यरक्षाके उपाय

उपर्युक्त प्रकारके मैथुनके त्यागके अतिरिक्त निम्नलिखित साधन भी ब्रह्मचर्यकी रक्षामें सहायक हो सकते हैं—

(१) भोजनमें उत्तेजक पदार्थोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। मिर्च, राई, गरम मसाले, अचार, खटाई, अधिक मीठा और अधिक गरम चीजें नहीं खानी चाहिये। भोजन खूब चबाकर करना चाहिये। भोजन सदा सादा, ताजा और नियमित समयपर करना चाहिये। मांस, लहसुन, प्याज आदि अभक्ष्य पदार्थ और मद्य, गाँजा, भाँग आदि अन्य नशीली वस्तुएँ तथा केशर, कस्तूरी एवं मकरध्वज आदि वाजीकरण औषधोंका भी सेवन नहीं करना चाहिये।

(२) यथासाध्य नित्य खुली हवामें सबेरे और सायंकाल पैदल घूमना चाहिये।

(३) रातको जल्दी सोकर सबेरे ब्राह्ममुहूर्तमें अर्थात् पहरभर रात रहे अथवा सूर्योदयसे कम-से-कम घंटेभर पूर्व अवश्य उठ जाना चाहिये। सोते समय पेशाब करके, हाथ-पैर धोकर तथा कुल्ला करके भगवान्‌का स्मरण करते हुए सोना चाहिये।

(४) कुसङ्गका सर्वथा त्याग कर यथासाध्य सदाचारी, वैराग्यवान्, भगवद्भक्त पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये, जिससे मलिन वासनाएँ नष्ट होकर हृदयमें अच्छे भावोंका संग्रह हो।

(५) पति-पत्नीको छोड़कर अन्य स्त्री-पुरुष अकेलेमें कभी न बैठें और न एकान्तमें बातचीत ही करें।

(६) भगवद्गीता, रामायण, महाभारत, उपनिषद्, श्रीमद्भागवत आदि उत्तम ग्रन्थोंका नित्य नियमपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिये। इससे बुद्धि शुद्ध होती है और मनमें गंदे विचार नहीं आते।

(७) ऐश, आराम, भोग, आलस्य, प्रमाद और पापमें समय नहीं बिताना चाहिये। मनको सदा किसी-न-किसी अच्छे काममें लगाये रखना चाहिये।

(८) मूत्रत्याग और मलत्यागके बाद इन्द्रियको ठंढे जलसे धोना चाहिये और मल-मूत्रकी हाजतको कभी नहीं रोकना चाहिये।

(९) यथासाध्य ठंढे जलसे नित्य स्नान करना चाहिये।

(१०) नित्य नियमितरूपसे किसी प्रकारका व्यायाम करना चाहिये। हो सके तो नित्यप्रति कुछ आसन एवं प्राणायामका भी अभ्यास करना चाहिये।

(११) लँगोटा या कौपीन रखना चाहिये।

(१२) नित्य नियमितरूपसे कुछ समयतक परमात्माका ध्यान अवश्य करना चाहिये।

(१३) यथाशक्ति भगवान्‌के किसी भी नामका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक जप तथा कीर्तन करना चाहिये। कामवासना जाग्रत् हो तो नाम-जपकी धुन लगा देनी चाहिये, अथवा जोर-जोरसे कीर्तन करने लगना चाहिये। कामवासना नाम-

जप और कीर्तनके सामने कभी ठहर नहीं सकती।

(१४) जगत्में वैराग्यकी भावना करनी चाहिये। संसारकी अनित्यताका बार-बार स्मरण करना चाहिये। मृत्युको सदा याद रखना चाहिये।

(१५) पुरुषोंको स्त्रीके शरीरमें और स्त्रियोंको पुरुषके शरीरमें मलिनत्व-बुद्धि करनी चाहिये। ऐसा समझना चाहिये कि जिस आकृतिको हम सुन्दर समझते हैं, वह वास्तवमें चमड़ेमें लपेटा हुआ मांस, अस्थि, रुधिर, मज्जा, मल, मूत्र, कफ आदि मलिन एवं अपवित्र पदार्थोंका एक घृणित पिण्डमात्र है।

(१६) महीनेमें कम-से-कम दो दिन अर्थात् प्रत्येक एकादशीको उपवास करना चाहिये और अमावास्या तथा पूर्णिमाको केवल एक ही समय अर्थात् दिनमें भोजन करना चाहिये।

(१७) भगवान्की लीलाओं तथा महापुरुषों एवं वीर ब्रह्मचारियोंके चरित्रोंका मनन करना चाहिये।

(१८) यथासाध्य सबमें परमात्मभावना करनी चाहिये।

(१९) नित्य-निरन्तर भगवान्को स्मरण रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

ऊपर जितने साधन बताये गये हैं, उनमें अन्तिम साधना सबसे उत्तम तथा सबसे अधिक कारगर है। यदि नित्य-निरन्तर अन्त:करणको भगवद्भावसे भरते रहनेकी चेष्टा की जाय तो मनमें गंदे भाव कभी उत्पन्न हो ही नहीं सकते। किसी कविने क्या ही सुन्दर कहा है—

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
सपनेहुँ कबहुँक रहि सकैं, रबि रजनी इक ठाम॥

जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेपर रात्रिके घोर अन्धकारका नाश हो जाता है, उसी तरह जिस हृदयमें भगवान् अपना डेरा जमा लेते हैं, अर्थात् नित्य-निरन्तर भगवान्का स्मरण होता है, वहाँ कामका उदय भी नहीं हो सकता। भगवद्भक्तिके प्रभावसे हृदयमें विवेक एवं वैराग्यका अपने-आप उदय हो जाता है। पद्मपुराणान्तर्गत श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें ज्ञान और वैराग्यको भक्तिके पुत्ररूपमें वर्णन किया गया है। अत: ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेके लिये नित्य-निरन्तर भगवान्का स्मरण करते रहना चाहिये। भगवत्स्मरणके प्रभावसे अन्त:करण सर्वथा शुद्ध होकर बहुत शीघ्र भगवान्की प्राप्ति हो जाती है, जो मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य और ब्रह्मचर्यका अन्तिम फल है। भगवान्ने स्वयं गीताजीमें कहा है—

अनन्यचेता: सततं यो मां स्मरति नित्यश:।
तस्याहं सुलभ: पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिन:॥

(८।१४)

आरोग्य-सम्बन्धी दोहे

१-शीतल जलमें डालकर सौंफ गलाओ आप।
मिश्रीके सँग पान कर मिटे दाह-संताप॥
२-फटे बिमाई या मुँह फटे, त्वचा खुरदुरी होय।
नीबू-मिश्रित आँवला सेवनसे सुख होय॥
३-सौंफ इलायची गर्मीमें, लौंग सर्दीमें खाय।
त्रिफला सदाबहार है, रोग सदैव हर जाय॥
४-वात-पित्त जब-जब बढ़े, पहुँचावे अति कष्ट।
सौंठ, आँवला, दाख सँग खावे पीड़ा नष्ट॥
५-नीबूके छिलके सुखा, बना लीजिये राख।
मिटै वमन मधु संग ले, बढ़ै वैद्यकी साख॥
६-लौंग इलायची चाबिये, रोजाना दस पाँच।
हटै श्लेष्मा कण्ठका, रहो स्वस्थ है साँच॥
७-स्याह नौन हरड़े मिला इसे खाइये रोज।
कब्ज गैस क्षणमें मिटै सीधी-सी है खोज॥
८-पत्ते नागरबेलके हरे चबाये कोय।
कण्ठ साफ-सुथरा रहे, रोग भला क्यों होय॥
९-खाँसी जब-जब भी करे, तुमको अति बेचैन।
सिकीं हींग अरु लौंगसे मिले सहज ही चैन॥
१०-छल-प्रपंचसे दूर हो, जन-मङ्गलकी चाह।
आत्मनिरोगी जन वही गहे सत्यकी राह॥

(श्रीधीरजकुमारजी खरया)

आरोग्य-साधन

(महात्मा गांधी)

साधारणत: लोग उस मनुष्यको नीरोग समझते हैं, जो मजेमें खाता-पीता है, चलता-फिरता है और वैद्यको नहीं बुलाता। पर सोचनेसे मालूम होगा कि लोग इसमें भूलते हैं। ऐसे उदाहरणोंकी कमी नहीं है कि खाते-पीते और चलते-फिरते मनुष्य भी रोगी हैं; परंतु बीमारीकी परवा न करनेके कारण अपनेको नीरोग मान बैठे हैं। बिलकुल नीरोग मनुष्य दुनियामें बहुत ही थोड़े मिलेंगे।

एक अंग्रेज लेखकका कथन है कि नीरोग उन्हीं मनुष्योंको कहना चाहिये, जिनके शुद्ध शरीरमें शुद्ध मनका वास हो। मनुष्य केवल शरीर ही तो नहीं है। शरीर तो उसके रहनेकी जगह है। शरीर, मन और इन्द्रियोंका ऐसा घना सम्बन्ध है कि इनमें किसी एकके बिगड़नेपर बाकीके बिगड़नेमें जरा भी देर नहीं लगती। शरीरकी उपमा गुलाबके फूलके साथ दी गयी है। गुलाबके फूलका ऊपरी भाग तो उसका शरीर है और सुगन्धि उसकी आत्मा। कागजके गुलाबको कोई पसंद नहीं करता। सूँघनेसे उसमें गुलाबकी सुगन्धि नहीं आयेगी, असली गुलाबकी परख वास ही है। जैसे गुलाबके समान दिखलायी पड़नेवाले गन्धहीन फूलको लोग फेंक देते हैं, वैसे ही ऐसे शरीरपर किसीका प्रेम नहीं हो सकता जो ऊपरसे देखनेमें तो अच्छा लगता है, पर उसके अंदर रहनेवाले आत्माके व्यवहार ठीक नहीं होते। बुरे चरित्रके लोग नीरोग नहीं गिने जाते। शरीर और आत्माका ऐसा गहरा सम्बन्ध है कि जिसका शरीर नीरोग होगा, उसका मन अवश्य ही शुद्ध होगा। पाश्चात्त्य देशोंमें इस मतका एक पंथ ही है कि जिसका मन शुद्ध होता है, उसके शरीरमें रोग होते ही नहीं और हुए भी तो वह शुद्ध मनके जोरसे अपना शरीर नीरोग कर सकता है। सार यह है कि आरोग्यका दृढ़ साधन हमारा मन ही है, मनकी शुद्धिसे ही आरोग्य प्राप्त होता है।

तामसिकता, आलस्य तथा बहरापन—ये सारे बीमारीके ही चिह्न हैं। कितने डॉक्टर तो चोरी आदि दुर्गुणोंको भी बीमारी ही मानते हैं। विलायतमें कितनी ही धनी स्त्रियाँ दूकानोंसे बहुत मामूली-मामूली चीजें चुराती देखी गयी हैं। वहाँ डॉक्टर इसे 'क्लेप्टेमेनिया' की बीमारी कहते हैं। कुछ मनुष्योंको खूनखराबी किये बिना कल नहीं पड़ती। यह भी एक तरहका रोग है।

हम कह सकते हैं कि जिनका शरीर अखण्ड है, शरीरमें किसी तरहकी कमी नहीं, दाँत ठीक हैं तथा कान-आँख इत्यादि मौजूद हैं; नाक नहीं बहती, चमड़ेसे पसीना बहता है और बसाता नहीं, पैर नहीं बसाते, मुँहसे बू नहीं निकलती, हाथ-पैर साधारण काम कर सकते हैं, जो विषयोंमें नहीं फँसे रहते, न बहुत मोटे हैं न पतले, जिनकी इन्द्रियाँ, मन सदा वशमें रहता है, वे ही नीरोग हैं। आरोग्य प्राप्त करके उसे भोगना आसान काम नहीं है। हमें ऐसा आरोग्य न मिलनेका कारण यह है कि हमारे माता-पिताको ऐसा आरोग्य प्राप्त नहीं। एक बहुत बड़े लेखकने लिखा है कि माता-पिता हर तरहसे योग्य हों तो उनकी संतति उनसे बढ़ी-चढ़ी होनी चाहिये। विकासवादी भी इसे मानते हैं। बिलकुल नीरोग मनुष्यको मौतका डर नहीं रहता। हमारा मौतसे बहुत डरना साबित करता है कि हम नीरोग नहीं हैं। मौत हमारे लिये एक बड़ा-सा फेरफार है, सृष्टिके नियमानुसार यह फेरफार सुखदायी होना चाहिये। ऊपर बताये हुए उच्च आरोग्यको पानेका यत्न करना हमारा कर्तव्य है।

× × ×

आरोग्यकी आवश्यकता क्या है? हमारा व्यवहार देखनेसे तो यही जान पड़ता है कि हम आरोग्यकी कोई आवश्यकता ही नहीं समझते। यह निर्विवाद है कि ऐश-आराम करना, शरीरहीको सारी चीजोंसे श्रेष्ठ समझना, उसकी दृढ़तापर गर्व करना आदि बातें यदि आरोग्य-रक्षाका उद्देश्य समझी जायँ तो ऐसे आरोग्यसे तो शरीरमें दूषित पित्तादिका भरा रहना ही उत्तम है।

सारे धर्मोंने इस शरीरको ईश्वरसे मिलने और उनके पहिचाननेका मन्दिर ठहराया है। यह मन्दिर हमें किरायेपर मिला है। मालिककी स्तुति और पूजाके रूपमें किराया चुकता है। किरायेदारका दूसरा कर्तव्य यह होना चाहिये कि वह घरका दुरुपयोग न करे और उसे भीतर एवं बाहरसे साफ रखते हुए नियत समयमें मालिकको ऐसी स्थितिमें सौंप दे, जिस स्थितिमें उनसे मिला था। किरायेदार यदि

भाड़ेकी सभी शर्तोंका पालन करता है तो गृहस्वामी किरायेकी अवधि पूरी होनेपर उसे इनाम देता तथा अपना वारिस भी बना लेता है।

जीवमात्र देहधारी है और सबके शरीरकी आकृति प्रायः एक-सी ही है—सुनने, देखने, सूँघने और भोग भोगनेके लिये सभी साधन-सम्पन्न हैं, इन सब बातोंमें समता होनेपर भी मनुष्य-शरीरको चिन्तामणि कहा गया है। चिन्तामणिका अर्थ यह है कि उसके द्वारा हम जो चीज चाहें पा सकते हैं। पशु-शरीरद्वारा जीव ज्ञानपूर्वक ईश्वरकी भक्ति नहीं कर सकता और इसमें संदेह नहीं कि जहाँ ज्ञानपूर्वक भक्ति नहीं, वहाँ मुक्ति नहीं और जहाँ मुक्ति नहीं, वहाँ न तो सच्चा सुख मिल सकता है और न दुःखोंका नाश ही हो सकता है। जब शरीरका सदुपयोग हो अर्थात् उसे ईश्वरका घर समझा जाय, तभी वह कामका है, अन्यथा वह हाड़-मांस और खूनसे भरा एक गंदा बरतन है और उसमेंसे निकलकर बाहर आनेवाला पानी तथा साँस दोनों जहरीली चीजें हैं। शरीरके असंख्य छोटे-बड़े छेदोंमेंसे निकलनेवाली चीजें इस योग्य नहीं कि हम उनको इकट्ठीकर रखना चाहें। उन्हें विचारने, देखने और छू जानेपर हम कै कर देते हैं। बड़े परिश्रम करनेपर हम कहीं इस योग्य हो सकते हैं कि उन बाहर निकली हुई चीजोंमें कीड़े न पड़ने दें—उनको बचा लें। ऐसी दशामें कितनी लज्जाकी बात है कि हम ऐसे शरीरके लिये बेईमानी, दगाबाजी, स्वेच्छाचारिता, कपट, चोरी, व्यभिचार इत्यादि लाखों न करने योग्य काम करें। क्या हम इन्हीं कामोंके लिये ऐसे शरीरको नित्य बड़े यत्नसे सँभाला करते हैं, जो सब प्रकारकी सँभाल होते हुए भी ठोकरकी अपेक्षा आघात सहनेकी शक्ति रखता है?

यह शरीरकी वास्तविक दशा है। जिस चीजका अच्छे-से-अच्छा उपयोग हो सकता है, उस वस्तुका दुरुपयोग होनेकी सत्ता उसीमें होती है। न हो तो उसका मूल्य निर्धारित नहीं किया जा सकता। सूर्यके तेजकी परीक्षा हम इसलिये कर सकते हैं कि उसके अभावमें अँधेरेकी स्थितिका हमें प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। यही क्यों, जिन सूर्यके बिना हम घड़ी भर भी नहीं जी सकते, उन्हीं सूर्यमें हमको जलाकर राख कर डालनेकी भी शक्ति मौजूद है। राजाके सम्बन्धमें लीजिये—वह बहुत अच्छा हो सकता है और बहुत अधम भी बन सकता है।

शरीरको अपने वशमें रखनेके लिये एक ओर तो अन्तरात्माका प्रयत्न जारी रहता है, दूसरी ओर पापपुरुष शैतान अपने अनवरत उद्योगसे उसे अपनी मुट्ठीमें कर रखना चाहता है। जब शरीर अन्तरात्माके अधीन रहता है, तब वह रत्नके समान है और शैतानका अधिकार जम जानेपर साक्षात् नरककी खानि हो जाता है। जो शरीर विषयासक्त है, जिसमें तमाम दिन सब प्रकारकी सड़ने या सड़ानेवाली खुराक भरी जाती है, जिसमेंसे दुर्गन्धि निकला करती है, जिसके हाथ-पैर चोरीके काममें और जिसकी जीभ अभक्ष्य-भक्षण और अयोग्य-भाषणमें ही निरत रहती है, जिसकी आँख न देखने योग्य चीजोंके देखने, जिसके कान न सुनने योग्य बातोंके सुनने, जिसकी नाक न सूँघने योग्य चीजोंके सूँघनेमें व्यवहृत होते हैं, वह तो नरकसे भी गया-गुजरा है। नरकको तो सब नरकरूपमें ही देखते हैं, किंतु विचित्रता यह है कि शरीरको नरकके समान बनाते हुए भी हम उसे स्वर्गरूपमें गिनते चले जाते हैं। शरीरके सम्बन्धमें यह नारकीय दम्भ और राक्षसी ढोंग चल रहा है। पाखानेको पाखाना समझकर ही उपयोगमें लाना चाहिये और महलका उपयोग महलकी भाँति ही किया जाना चाहिये। जो लोग इनका विरुद्ध उपयोग करते हैं, वे वैसा ही फल भी भोगते हैं। ठीक यही बात शरीरपर घटती है। शैतानके कब्ज़ेमें रहनेवाले अपने अन्तरात्माके वशमें न रहनेवाले शरीरसे आरोग्य चाहनेके बदले उसका नाश चाहना अधिक सुखकर है।

ईश्वरीय नियम पालनेसे ही शरीर नीरोग रह सकता है—शैतानी नियम पालनेसे नहीं। जहाँ सच्चा आरोग्य है, वहीं सच्चा सुख है और सच्चा आरोग्य प्राप्त करनेके लिये हमें स्वादेन्द्रिय जीभको जीतना ही जरूरी है। अन्यान्य विषयेन्द्रियाँ अपने-आप वश हो जाती हैं और जो इन्द्रियोंको वश कर लेता है, वह सारे संसारको वश कर लेता है, कारण यह कि वह मनुष्य ईश्वरका अधिकारी, उसका अंश बन जाता है।

स्वस्थ जीवनके लिये धारण करने योग्य ५१ बातें

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

१—रोज प्रात:काल सूर्योदयसे पहले उठो। उठते ही भगवान्‌को प्रणाम करो, फिर हाथ-मुँह धोकर उष:पान करो। ठंडे जलसे आँखें धोओ।

२—पेशाब-पाखानेकी हाजतको कभी न रोको। पेटमें मल जमा न होने दो।

३—रोज दतुअन करो; भोजन करके हाथ, मुँह, दाँत अवश्य धोओ।

४—प्रतिदिन प्रात:काल स्नान करके सूर्यको अर्घ्य दो।

५—दोनों समय (प्रात: और संध्या) नियमपूर्वक श्रद्धाके साथ भगवत्प्रार्थना या संध्या करो।

६—हो सके तो प्रात:काल शुद्ध वायुका सेवन अवश्य करो।

७—भूखसे अधिक न खाओ, जीभके स्वादके वशमें न होओ; पवित्रतासे बना हुआ—पवित्र कमाईका अन्न खाओ; किसीका भी जूठा कभी न खाओ, न किसीको अपना जूठा खिलाओ, मांस-मद्यका सेवन कभी न करो।

८—भोजनके समय जल न पीओ या बहुत थोड़ा पीओ।

९—पान, तंबाकू, सिगरेट, बीड़ी, चाय, काफी, भाँग, अफीम, गाँजा, चरस, ताश, चौपड़, शतरंज आदिका व्यसन न डालो; दवा अधिक सेवन न करो। पथ्य, परहेज, संयम, युक्ताहार-विहारका अधिक ध्यान रखो।

१०—दिनमें न सोओ, रातमें अधिक न जागो, छ: घंटेसे अधिक न सोओ।

११—नियमितरूपसे धर्मग्रन्थोंका कुछ स्वाध्याय अवश्य करो।

१२—रोज नियमितरूपसे कम-से-कम २५,००० भगवान्‌के नामोंका जप अवश्य करो।

१३—संतोंके चरित्र और उनकी दिव्य वाणीका अध्ययन करो।

१४—जूआ कभी न खेलो, बाजी न लगाओ, होड़ न बदो।

१५—सिनेमा, स्त्रियोंका नाच आदि न देखो।

१६—कपड़े सादे पहनो और साफ रखो, मैले न होने दो; परंतु फैशनका खयाल बिलकुल न रखो। कपड़े बिगाड़कर भी न पहनो, बहुत कीमती कपड़े न पहनो।

१७—हजामत और नख न बढ़ने दो, परंतु शौकसे दिनमें दो बार बनाओ भी नहीं।

१८—अपने शरीरको सुन्दर दिखलानेका प्रयत्न न करो।

१९—किसी भी हालतमें यथासाध्य उधार न लो, उधार लेकर खर्च करनेसे आदत बिगड़ जाती है; जबतक उधार मिलता है, खर्च बढ़ता ही जाता है; पीछे बड़ी कठिनाई और बेइज्जती होती है।

२०—तकलीफ सहकर भी आमदनीसे कम खर्च करो, अधिक खर्च करनेवालों या अमीरोंको आदर्श न मानकर मितव्ययी पुरुषों और गरीबोंकी ओर ध्यान दो। मितव्ययी पुरुष आमदनीमेंसे कुछ बचाकर अपनी ताकतके अनुसार दु:खियोंकी सेवा कर सकता है, चाहे एक पैसेसे ही हो; खरी कमाईसे बचे हुए एक पैसेके द्वारा भी की हुई दीन-सेवा बहुत महत्त्वकी होती है। मितव्ययी पुरुषके बचाये हुए पैसे उसके आड़े वक्तपर काम आते हैं। जो अधिक खर्च करता है, उसकी आदत इतनी बिगड़ जाती है कि वह बहुत अधिक आमदनी होनेपर भी एक पैसा बचाकर दीनोंकी सेवा नहीं कर सकता। वह अपने खर्चसे ही परेशान रहता है और आमदनी न होने या कम होनेकी सूरतमें उसपर कष्टोंका पहाड़ टूट पड़ता है। मितव्ययी और अच्छी आदतवाले पुरुष ऐसी अवस्थामें दु:खी नहीं हुआ करते।

२१—नौकरोंसे दुर्व्यवहार न करो, दु:खमें उनकी सेवा-सहायता करो। उनका तिरस्कार-अपमान कभी न करो। उनकी आवश्यकताओंका खयाल रखो और अपनी परिस्थितिके अनुसार उन्हें पूरा करनेकी चेष्टा करो।

२२—अपरिचित मनुष्यसे दवा न लो, जादू-टोना किसीसे भी न करवाओ।

२३—नोट दूना बनानेवाले, आँकड़ा बतानेवाले, सोना बनानेवाले, सट्टा बतलानेवाले लोगोंसे सावधान रहो; ऐसा करनेवाले प्राय: ठग होते हैं।

२४—किसी अनजानेको पेटकी बात न कहो, जाने हुए भी सबसे न कहो; परंतु अपने सच्चे हितैषी बन्धुसे छिपाओ भी नहीं।

२५—जहाँ भी रहो किसी वयोवृद्ध अनुभवी पुरुषको अपना हितैषी जरूर बना लो। विपत्तिके समय उसकी सलाह बहुत काम देगी।

२६—प्रेम सबसे रखो, परंतु बहुत ज्यादा सम्बन्ध स्थापित न करो। अनावश्यक दावतोंमें न जाओ और न दावत देनेकी ही आदत डालो।

२७—जो कुछ काम करो, अच्छी तरहसे करो। बिगाड़कर जल्दी और ज्यादा करनेकी अपेक्षा सुधारकर थोड़ा करना भी अच्छा है, परंतु आलस्य-प्रमादको समीप न आने दो।

२८—जोशमें आकर कोई काम न करो।

२९—किसीसे विवाद या तर्क न करो, शास्त्रार्थ न करो। अपनेको सदा विद्यार्थी ही समझो। समझदारीका अभिमान न करो। सीखनेकी धुन रखो।

३०—मीठा बोलो, ताना न मारो, कड़वी जबान न कहो; बीचमें न बोलो, बिना पूछे सलाह न दो; सच बोलो, अधिक न बोलो, बिलकुल मौन भी न रहो; हँसी-मजाक न करो; निन्दा-चुगली न सुनो; गाली न दो, शाप-वरदान न दो।

३१—नम्र और विनयशील रहो, झूठी चापलूसी न करो, ऐंठो नहीं, मान दो, पर मान न चाहो।

३२—दूसरेके द्वारा अच्छा बर्ताव होनेपर ही मैं उसके साथ अच्छा करूँगा, ऐसी कल्पना न करो। अपनी ओरसे पहलेसे ही सबसे अच्छा बर्ताव करो, जो अपनी बुराई करे उसके साथ भी।

३३—गरीबोंके साथ सहानुभूति रखो।

३४—किसी फर्ममें, संस्थामें या किसी व्यक्तिके लिये काम करो—नौकरी करो तो पूरी वफादारीसे करो। सदा तन-मन-वचनसे उसका हित-चिन्तन ही करते रहो।

३५—जहाँ रहो अपनी ईमानदारी, वफादारी, होशियारी, कार्य-कुशलता, मीठे वचन, परिश्रम और सचाईसे अपनी जरूरत पैदा कर दो। अपना स्थान स्वयं बना लो।

३६—प्रत्यक्ष लाभ दीखनेपर भी अनुचित लोभ न करो। अपनी ईमानदारीको हर हालतमें बचाये रखो। दूसरेका हक किसी तरह भी स्वीकार न करो। ईमान न बिगाड़ो।

३७—आचरणोंको—चरित्रको सदा पवित्र बनाये रखनेकी कोशिश करो।

३८—बिना ही कारण मान-बड़ाईके लिये न तरसो। गरीबीसे न डरो, बेईमानी और बुरी आदतोंसे अवश्य भय करो।

३९—परायी स्त्रीको जलती हुई आग या सिंहसे भी अधिक भयानक समझो। स्त्री-सम्बन्धी चर्चा न करो, स्त्री-चिन्तन न करो, स्त्रियोंके चित्र न देखो, स्त्रियोंके सम्बन्धकी पुस्तकें न पढ़ो। यथासाध्य स्त्री-सहवास अपनी स्त्रीसे भी कम करो। यही बात स्त्रीके लिये पर-पुरुषके सम्बन्धमें है।

४०—सदा अशुभ भावनाओंसे अपनेको न घिरा रहने दो। उनको दूर भगाये रखो।

४१—विपत्तिमें धैर्य और सत्यको न छोड़ो, दूसरेपर दोष न दो।

४२—जहाँतक हो क्रोध न आने दो। क्रोध आ जाय तो उसका कुछ प्रायश्चित्त करो।

४३—दूसरोंके दोष न देखो, अपने देखो। किसीको छोटा न समझो। अपना दोष स्वीकार करनेको सदा तैयार रहो।

४४—अपने दोषोंकी डायरी रखो; रातको उसे रोज देखो और कल ये दोष नहीं होंगे, ऐसा दृढ़ निश्चय करो।

४५—वासना-कामनाओंको जीतनेकी चेष्टा करो। कामनापूर्तिकी अपेक्षा कामनाओंको जीतनेमें ही सुख है।

४६—अहिंसा, सत्य और दयाको विशेष बढ़ाओ।

४७—जीवनका प्रधान लक्ष्य एक ही है, यह दृढ़ निश्चय कर लो। वह लक्ष्य है—'भगवान्‌की उपलब्धि।'

४८—विषयचिन्तन, अशुभचिन्तनका त्याग करके यथासाध्य भगवच्चिन्तनका अभ्यास करो।

४९—भगवान् जो कुछ दें, उसीको आनन्दपूर्वक ग्रहण करनेका अभ्यास करो।

५०—इज्जत, मान और नामका मोह न करो।

५१—भगवान्‌की कृपामें विश्वास करो।

परिवार-नियोजनमें संयमकी आवश्यकता

(संत विनोबा भावे)

परिवार-नियोजनमें मैं अपने देशका कल्याण नहीं देखता, प्रत्युत इसमें आध्यात्मिक और नैतिक मूल्योंकी हार है, ऐसा मैं मानता हूँ। इसके कई पहलू हैं— आध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक। यह चीज ही ऐसी है कि बिलकुल जीवनके केन्द्रमें खड़ी है। इसलिये यों ही सहज-भावसे कह देना कि 'हाँ भाई! जन-संख्या बढ़ रही है तो करो नियमन,' यह मुझे जँचता नहीं।

पृथ्वीको पापका भार है, संख्याका नहीं

मैंने एक सूत्र बनाया है—'पृथ्वीको पापका भार है, संख्याका नहीं।' संतान पापसे बढ़ सकती है, पुण्यसे भी बढ़ सकती है और पापसे घट सकती है, पुण्यसे भी घट सकती है। पुण्य-मार्गसे संतान बढ़ेगी तो पृथ्वीको बोझ नहीं होगा। पुण्य-मार्गसे संतान घटेगी तो नुकसान नहीं होगा। पाप-मार्गसे संतान बढ़ेगी तो पृथ्वीको भार होगा और पाप-मार्गसे घटेगी तो नुकसान होगा। यह मेरा अपना एक विचार है। इसलिये संतति-निरोधके जो कृत्रिम उपाय चलते हैं, उन्हें मैं मातृत्वकी विडम्बना कहता हूँ।

युद्धसे भी भयानक

आज मानव-समाजमें सेक्सका ऊधम मचाया जा रहा है। मुझे इसमें युद्धसे भी ज्यादा भय मालूम होता है। अहिंसाको हिंसाका जितना भय है, उससे अधिक काम-वासनाका है। हर जगह विज्ञानकी सहायता ली जा रही है, जिसके कारण सेक्समें भी साईंटिफिक ऑट्टिट्यूड (वैज्ञानिक वृत्ति)-की आवश्यकता पैदा हुई है।

वैज्ञानिक दृष्टि और संयम

परिवार-नियोजनका तात्पर्य है—आत्मसंयम— अपनेपर नियन्त्रण रखना। यह चीज नामुमकिन नहीं। विज्ञानके ज़मानेमें पहलेसे ज्यादा आसान होनी चाहिये। उस विषयका स्वरूप क्या है, परिवारका उद्देश्य क्या है, ब्रह्मचर्यकी साधना क्या होती है, उसमें कौन-सी शक्ति भरी है, इन बातोंका आज विज्ञानके समयमें प्रजाको पहलेकी अपेक्षा अधिक स्वस्थ ज्ञान होगा। हममें एक ऐसी शक्ति है जिसे ऊपर उठाया जा सकता है। जैसे दीपक या लालटेनकी प्रभा होती है, उसे नीचेसे तेलकी शक्ति प्राप्त होती है, तभी उसकी प्रभा, बत्ती, ज्योति अच्छी तरह चमकती है। मनुष्यके लिये 'ब्रह्मचर्य' तेल है और प्रज्ञा प्रभा, उसकी बुद्धिमत्ता उसका प्रकाश है। ब्रह्मचर्यके तेलकी शक्ति उसे सतत मिलती रहे तो बुद्धिमत्ता तेजस्वी होती है। वह न रही तो बुद्धि ही निर्बल हो जाती है, बुद्धिकी प्रतिभा कम होती है।

देश तेजोहीन होगा

कृत्रिम उपायोंके अवलम्बसे केवल संतान ही नहीं, बुद्धिमत्ता भी रुकेगी। यह जो क्रिएटिव एनर्जी (सर्जक शक्ति) है, जिसे हम 'वीर्य' कहते हैं, उसीसे वाल्मीकि-जैसे महाकवि पैदा हुए, महावीर हनुमान्-जैसे उसीसे हुए। प्रतिभावान् पुरुष और तत्त्वज्ञानी उसीसे निकले। उस निर्माण-शक्तिका मनुष्य दुरुपयोग करता है अर्थात् संख्या-नियमन करके संतानको रोक लिया और उस शक्तिका दूसरी तरफ जो उपयोग हो सकता था, उसे विषयोपभोगमें लगा दिया। विषय-वासनापर जो अंकुश रहता था, वह नहीं रहा। पति-पत्नी संतान उत्पन्न न हो, ऐसी व्यवस्था करके विषय-वासनामें व्यस्त रहेंगे तो उनके दिमागका कोई संतुलन नहीं रहेगा। ऐसी स्थितिमें देश तेजोहीन बनेगा। संतान कम होगी तो लाभ होगा, यह मानकर ये लोग उसे उत्तेजन देंगे। परंतु केवल संतान ही कम नहीं होगी, ज्ञानतन्तु भी क्षीण होंगे, प्रभा कम होगी, प्रज्ञा कम पड़ेगी, तेजस्विता कम होगी।

पुरुषार्थ बढ़ायें

दुनियाका अनुभव है कि जब जीवनमें पुरुषार्थ बढ़ता है, तब विषय-वासना कम होती है। सबको अच्छी तरह पुरुषार्थ करनेका अवसर मिलेगा तो स्वभावतः विषय-वासनापर नियन्त्रण हो जायगा। साथ ही हिंदुस्तानका

पुरुषार्थ जितना बढ़ेगा, उतना ही पोषणका प्रबन्धन भी बढ़ेगा। जहाँ पोषण अच्छा नहीं मिलता, वहाँ भोग-वासना बढ़ती है। जानवरोंमें भी यह देखा गया है। शेरके बच्चे कम होते हैं, बकरीके ज्यादा। बलवान् जानवरोंमें विषय-वासना कम होती है और निर्बलमें ज्यादा। फिर कमजोरोंकी जो संतान पैदा होती है, वह भी निर्वीर्य या निकम्मी होती है। इसलिये मैं कहता हूँ कि यह विषय सामाजिक और आध्यात्मिक है, उससे खिलवाड़ न किया जाय। ऐसे वातावरणका निर्माण किया जाय, जो संयमके अनुकूल हो। समाजमें पुरुषार्थ बढ़ायें, साहित्य सुधारें और गंदे साहित्य-सिनेमा आदिपर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगायें।

चार आश्रमोंकी योजना

शास्त्रोंके अध्ययन-मननसे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि हमारे पूर्वजोंने ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रमकी जो योजना बनायी थी, वह ठीक है। यदि ऐसी मर्यादा हम बनाते हैं तो उससे हमें लाभ होगा। गृहस्थाश्रमका पैमाना २५ सालकी आयुसे ४५ वर्षतक हो तो संतानका भी थोड़ा-बहुत नियमन होना चाहिये। वह होगा तो लाभ-ही-लाभ मिलेगा और आध्यात्मिक शक्तियाँ भी मिलेंगी।

हमारे सामने एक आदर्श होना चाहिये कि इतने वर्षोंके बाद हम गृहस्थाश्रमसे निवृत्त होंगे। जैसे विधिपूर्वक गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं, वैसे ही विधिपूर्वक गृहस्थाश्रमका विसर्जन भी होना चाहिये। इससे हम विषय-वासनासे मुक्त होते हैं।

'विषय-वासनासे मुक्ति सहज ही मिलेगी'—ऐसे भ्रममें जो रहता है, वह स्वयं अपनी कब्र खोदता है'—ऐसा महाराज ययातिने कहा है। वे बूढ़े हो गये थे, परंतु उन्हें वासना-तृप्ति नहीं हुई थी, इसलिये उन्होंने अपने बच्चोंसे जवानी माँगी। बच्चोंने दे दी। जवान होकर दुबारा भोग भोगा, परंतु फिर भी उनकी तृप्ति नहीं हुई। फिर महाराज ययातिने अपना अनुभव श्रीमद्भागवतमें बता दिया—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(९।१९।१४)

अर्थात् 'कामके उपभोगसे काम-पिपासा कम नहीं होती। घीसे जैसे अग्नि बढ़ती है, वैसे ही वह बढ़ती चली जाती है।' चाहे शक्ति घट जाय, इच्छा तो बढ़ती ही रहती है। इसलिये उसको तोड़ना ही होता है। स्वायम्भुव मनुकी कथा तुलसीदासजीने रामायणमें दी है ***'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन'***—बुढ़ापा आया, परंतु विषय-वासना नहीं मिटी। मनुको बड़ा दुःख हुआ कि ***'जनम गयउ हरिभगति बिनु।'*** तब उन्होंने क्या किया?' ***'बरबस राज सुतहि तब दीन्हा।'***—जबर्दस्ती राज्य अपने पुत्रको सौंप दिया और ***'नारि समेत गवन बन कीन्हा।'***—पत्नीके साथ वनमें प्रवेश किया।' ये तुलसी-रामायणके शब्द हैं। इस तरह अपने-पर, अपनी इन्द्रियोंपर, मनपर जबर्दस्ती करनेका अधिकार पुरुषको होता है। उसका उपयोग उन्होंने किया और वनमें चले गये। सारांश यह कि विषय-वासना ऐसे ही टूटेगी। उसमेंसे हम छूटेंगे, ऐसा मानना बिलकुल गलत है।

विषय-वासनाकी एक मर्यादा होनी चाहिये। जब लोकमत होता है, तभी यह सम्भव होती है। जिन्होंने यह वानप्रस्थाश्रमकी कल्पना निकाली, उन्होंने इस विषयमें लोकमत बनाया था। परंतु वह लोकमत आज टूट गया, वानप्रस्थाश्रम समाप्त हो गया। गृहस्थाश्रमकी प्रतिष्ठा गयी। ऐसी स्थितिमें जो समाज रहता है, वह कैसे आगे बढ़ेगा? यह शोचनीय बात है। इसलिये वानप्रस्थकी बात करनी चाहिये।

जिस दिन चार आश्रमोंकी स्थापनाकी आशा मैं छोड़ूँगा, उस दिन हिंदू होनेका दावा भी छोड़ दूँगा और कहना पड़ेगा कि यह केवल हिंदुओंकी वस्तु नहीं है। मुहम्मदने भी लिखा है कि '४० सालके बाद मनुष्यका ध्यान भगवान्‌की ओर जाना चाहिये' और जाता है। उन्होंने ४० की मर्यादा मानी, जिसमें मनुष्यको विषय-वासनासे अलग होना चाहिये।

आरोग्य और भोजन-विज्ञान

(स्वामी श्रीदयानन्दजी)

आर्यशास्त्रमें अन्यान्य यज्ञोंकी तरह भोजन-व्यापारको भी एक नित्ययज्ञ कहा गया है। इस नित्ययज्ञके यज्ञेश्वर भगवान् वैश्वानर कहे गये हैं, यथा—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

(गीता १५। १४)

श्रीभगवान् वैश्वानर (जठराग्नि)-रूपसे प्रत्येक प्राणीमें बैठकर प्राण और अपान-वायुकी सहकारितासे चर्व्य, चोष्य, लेह्य तथा पेय—इन चार प्रकारके भोज्य अन्नोंको भक्षण करते हैं। अन्ततः आर्यभोजनसे केवल उदरपूर्ति ही नहीं होती, अपितु श्रीभगवान्की पूजा भी होती है; इसीसे हमारे शास्त्रोंमें भोजनकी पवित्रतापर विशेष विचार किया गया है। इस सम्बन्धमें सबसे पहले स्थानका विचार करना चाहिये; अर्थात् चाहे जिस स्थानमें बैठकर या खड़े-खड़े भोजन करना ठीक नहीं; क्योंकि अशुचि स्थानमें पूजा करनेसे कोई फल नहीं होता, भगवान् असंतुष्ट होते हैं। भोजनका स्थान पवित्र, एकान्त और गोमय तथा जल आदिसे शुद्ध किया हुआ होना चाहिये। दूसरे स्वयं पवित्र होकर भोजन करना चाहिये; क्योंकि अपवित्र शरीर और अशुचि मनसे भगवत्पूजा करनेसे कोई फल नहीं होता। तीसरे जिस वस्तुसे पूजा करनी हो, वह पवित्र और सात्त्विक होनी चाहिये; क्योंकि अशुद्ध और तामसिक वस्तुओंसे भगवान्की पूजा नहीं की जाती। उससे शरीर, मन, बुद्धि और आत्माका कलुषित होना सम्भव है। अन्ततः खाद्य द्रव्य शुद्ध और सात्त्विक होना आवश्यक है। चौथे पूजाकी वस्तु जिसमें संग्रह की जाय, वह पात्र स्वच्छ और परिष्कृत होना चाहिये। वह किसी अपवित्र व्यक्ति अथवा जीवसे स्पर्श किया हुआ नहीं होना चाहिये; क्योंकि पूजाके फूल, नैवेद्य आदि नीच जीव या पापियोंसे छुए जानेपर पूजाके योग्य नहीं रहते; इसीसे पापी या नीच जीवोंका अन्न ग्रहण करना निषिद्ध है। यही नहीं, उनका छुआ अन्न भी ग्रहण नहीं करना चाहिये। इसी कारण हमारे प्राचीन ऋषियोंने आहारपर बहुत विचार करके आहार-सम्बन्धी नाना प्रकारके आचारोंका निर्णय किया है।

भोजनके विषयमें भगवान् मनुने लिखा है—

'आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः'।

आयु चाहनेवालेको पूर्वमुख और यश चाहनेवालेको दक्षिणमुख भोजन करना चाहिये।

पूर्वदिशासे प्राण और शक्तिका उदय होता है। प्राणस्वरूप सूर्यदेव पूर्वसे ही उदित होते हैं, इस कारण पूर्वाभिमुख होकर भोजन करनेसे आयुका बढ़ना स्वाभाविक है। इस विषयमें पश्चिमी पण्डितोंने भी अन्वेषण किया है। यथा—

Dr. George Starr White of the New York Medical College discovered that a healthy Person had a slight difference in sound over each organ when faced east than he had when he faced north and he deduced that the reason for this is that when a person faces north the magnetic lines of force cut through a larger surface of the sympathetic nervous chain.

डॉ० जार्जका सिद्धान्त है कि उत्तरकी ओर मुँह करके खानेसे वैद्युतिक प्रवाह नसोंके द्वारा अधिक वेग तथा विस्तारके साथ चलता है, इसलिये वह उतना आयुर्वृद्धिकर नहीं है जितना कि पूर्वाभिमुख भोजन। इसी प्रकार यश देनेवाले पितरोंका सम्बन्ध दक्षिण दिशाके साथ रहनेके कारण दक्षिणाभिमुख भोजनसे यशोलाभ होता है। स्नान तथा पूजादिसे शरीर और मनकी पवित्रता बढ़ती है, इसलिये शास्त्रमें कहा है—

'अस्नात्वाशी मलं भुङ्क्ते अजपी पूयशोणितम्'।

नीरोग शरीर होनेपर बिना स्नान किये खानेसे मल-भोजन और बिना जप-पूजा किये खानेसे पूय-शोणित-भोजनका दोष होता है। इसलिये स्नान करनेके बाद भोजन करना चाहिये। शास्त्रोंमें लिखा है—

पञ्चार्द्रो भोजनं कुर्यात् प्राङ्मुखो मौनमास्थितः।
हस्तौ पादौ तथैवास्यमेषा पञ्चार्द्रता मता॥

'दोनों हाथ, दोनों पाँव और मुँह धोकर, पूर्वाभिमुख हो, मौन अवलम्बनकर भोजन करे।' योगशास्त्रमें मनुष्यके

स्वाभाविक श्वासकी गति बारह अङ्गुल, किंतु भोजनकालमें बीस अङ्गुल बतायी गयी है। श्वासकी गति अधिक होनेपर आयु घटती और कम होनेपर बढ़ती है। लोभसे भोजन करनेमें तथा हाथ-पाँव न धोकर भोजन करनेमें श्वासगति बढ़ती है। इसी कारण भगवान्‌को भोग लगाकर प्रसादरूपसे तथा हाथ-पाँव धोकर खानेकी विधि है। मनुने कहा है—

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्॥

भींगे-पैर भोजन करे, परंतु शयन न करे। भींगे-पैर भोजन करनेसे आयु बढ़ती है और शयन करनेसे घटती है। मौन होकर भोजन करनेको इसलिये कहा है कि भोजन करते समय बोलते रहनेसे लार कम उत्पन्न होगी, फलतः मुँह सूख जानेसे बीच-बीचमें पानी पीना पड़ेगा। लार कम उत्पन्न होने और मुँह सूखनेके कारण पानी पीनेसे पाचनक्रियामें बाधा उत्पन्न होगी। महाभारतमें लिखा है— **'एकवस्त्रो न भुञ्जीत'** केवल एक वस्त्र धारण करके भोजन न करे। भोजन करते समय एक उत्तरीय (दुपट्टा) ओढ़ लेना चाहिये; वह रेशमी हो तो अधिक अच्छा है। भोजन करते हुए शरीरयन्त्रकी जो क्रियाएँ होती हैं, उनमें बाहरी वायु बाधा न पहुँचा सके, इसीलिये यह व्यवस्था है। रेशमी वस्त्र इस कारण अच्छा समझा गया है कि रेशम भीतरी शक्तिको सुरक्षित रखकर बाहरी शक्तिका उसपर परिणाम नहीं होने देता। इस प्रकार पवित्र भावसे भोजन करना चाहिये। स्नान करनेके पश्चात् ही भोजन करना उचित है, क्योंकि भगवत्पूजा बिना स्नान किये नहीं की जाती और पूजा किये बिना भोजन करना निषिद्ध है। शरीर अस्वस्थ रहनेपर गीले कपड़ेसे शरीर पोंछकर वस्त्र बदल दे और भस्मस्नान अथवा मानसिक स्नान कर ले। मानसिक स्नान, श्रीविष्णु-भगवान्‌का स्मरण करके 'स्वर्गसे गङ्गाकी धारा आयी और उसमें स्नानकर मैं पवित्र हुआ' ऐसी दृढ़ भावना करनेसे होता है। भस्मस्नान शिवमन्त्रसे अग्निहोत्रकी विभूतिको अभिमन्त्रित कर देहमें लगानेसे होता है।

भोजनके पहले भोज्य पदार्थोंका भगवान्‌को नैवेद्य दिखाकर तब प्रसाद समझकर भोजन करे। प्रसादरूपसे भोज्य पदार्थोंका सेवन करनेसे अन्नमें अनुचित आसक्ति न रहेगी। जब कि संसारकी सब वस्तुएँ भगवान्‌की उत्पन्न की हुई हैं, तब उन्हें पकाकर भगवान्‌को बिना अर्पण किये खानेसे निस्संदेह पाप होगा। गीता (३। १२)-में कहा है—

'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः'॥

देवताकी दी हुई वस्तु उन्हें बिना समर्पण किये जो खाता है, वह चोर है, अतः भगवान्‌को समर्पण करके ही अन्न ग्रहण करना चाहिये।

खाद्य वस्तुएँ पवित्र और सात्त्विक होनी चाहिये। इसका कारण छान्दोग्योपनिषद्‌में बताया गया है। यथा—

'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मा॰सं योऽणिष्ठस्तन्मनः॥'

'दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत् सर्पिर्भवति॥ एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति॥'

(६। ५। १; ६। ६। १-२)

और भी—

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।'

खाया हुआ अन्न तीन भागमें विभक्त हो जाता है—स्थूल असार अंश मल बनता है, मध्यम अंशसे मांस बनता है और सूक्ष्म अंशसे मनकी पुष्टि होती है। जिस प्रकार दधिके मथनेपर उसका सूक्ष्म अंश ऊपर आकर घृत बनता है, उसी प्रकार अन्नके सूक्ष्मांशसे मन बनता है। मन अन्नमय ही है। आहारशुद्धिसे सत्त्वशुद्धि, सत्त्वशुद्धिसे ध्रुवा स्मृति और स्मृतिशुद्धिसे सभी ग्रन्थियोंका मोचन होता है। अतः सिद्ध हुआ कि अन्नके सात्त्विकादि गुणानुसार मन भी सात्त्विकादि भावापन्न होगा। साधारणतः देखा जाता है कि अन्न न खानेसे मन दुर्बल हो जाता है, चिन्तन-शक्ति नष्ट होने लगती है। अन्न खानेसे मन सबल होता है तथा चिन्तन-शक्ति बढ़ने लगती है। अतः यही अन्न यदि तामसिक होगा तो मन, बुद्धि, प्राण और शरीर तामसिक होंगे; जिससे ब्रह्मचर्यधारण और साधना आदि असम्भव हो जायँगे। इसी तरह राजसिक अन्नसे भी मन और बुद्धि चञ्चल होते हैं, अतः पवित्र और सात्त्विक अन्न ही ग्रहण करना चाहिये। खाद्याखाद्यके सम्बन्धमें पश्चिमी देशोंमें जिस प्रणालीसे विचार किया गया है, वह सर्वाङ्गदृष्ट्या पूर्ण नहीं है। उन्होंने केवल इतना ही विचार किया है कि किस वस्तुमें कौन-सा रासायनिक द्रव्य कितना है। कैलशियम, प्रोटीन तथा विटामिन आदि जिसमें न्यून हो वह अखाद्य और जिसमें

अधिक हो वह खाद्य है—इतना ही मोटा सिद्धान्त उन्होंने बना लिया है। कौन-सी वस्तु किस ऋतुमें, किस प्रकारके शरीरके लिये, किस प्रकारसे सेवन की जाय, जिससे शरीर और मनका स्वास्थ्य परिवर्धित हो, इसकी विधि पश्चिमी चिकित्साशास्त्रकी पोथियोंमें नहीं मिलती। उन देशोंमें शीत अधिक है, अत: एक-सी ही वस्तुओंके बारहों मास सेवन करनेसे तद्देशवासियोंका काम बन जाता है; परंतु इस देशमें छहों ऋतु एक-से ही बलवान् हैं। ऋतुभेदसे वात, पित्त और कफकी न्यूनाधिकता होनेके कारण शारीरिक तथा मानसिक अवस्थामें कितना परिवर्तन होता है, यह जाननेकी वे अबतक चेष्टा नहीं करते। दूसरे, पश्चिमी देशोंकी यह निर्णयविधि बड़ी ही जटिल है। वहाँके प्रसिद्ध विद्वान् भी खाद्याखाद्यके सम्बन्धमें अभी एकमत नहीं हैं। तीसरे, उदरमें जाकर इन सब खाद्य-द्रव्योंका किस प्रकार विश्लेषण होता है और उससे शरीर-पोषणकारी कौन-से गुण उत्पन्न होते हैं, साधारण रासायनिक विश्लेषणद्वारा उसका निरूपण नहीं हो सकता। चौथे, इस देशके खाद्य-द्रव्योंके साथ उस देशके खाद्य-द्रव्योंके गुणावगुणका निर्णय नहीं हो सकता। सबसे बढ़कर बात यह है कि खाद्य-द्रव्योंके साथ मनका क्या सम्बन्ध है, सो पश्चिमी लोग नहीं जानते। अत: हमारे देशके खाद्याखाद्यका विचार हमारी शास्त्रीय विधियोंके अनुसार ही होना चाहिये। उसमें किसी खाद्यवस्तुमें चाहे कितना ही विटामिन हो यदि उसके परिणामद्वारा शरीरमें या मनमें विषयभाव, तमोगुण आदि बढ़ेंगे तो वह अवश्य ही वर्जित मानी जायगी। भगवान् श्रीकृष्णने सात्त्विक, राजसिक और तामसिक-भेदसे खाद्य-द्रव्योंको तीन भागोंमें विभक्त किया है। यथा—

आयु:सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना: ।
रस्या: स्निग्धा: स्थिरा हृद्या आहारा: सात्त्विकप्रिया: ॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिन: ।
आहारा राजसस्येष्टा दु:खशोकामयप्रदा: ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

(गीता १७। ८—१०)

सरस, स्निग्ध, सारवान् और हृदयग्राही आहार सात्त्विक होता है। अधिक कटु, अम्ल, लवण, उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष और विदाही (जलन उत्पन्न करनेवाला, चरपरा) आहार राजसिक है और बासी, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, जूठा और अपवित्र आहार तामसिक है। सात्त्विक आहारसे आयु, बल, उत्साह, आरोग्य, सुख और प्रीतिकी वृद्धि होती है और चित्तमें सत्त्वगुणकी वृद्धि तथा आध्यात्मिक उन्नति भी होती है। राजसिक आहारसे दु:ख, शोक और रोग उत्पन्न होते हैं और तामसिक आहारसे जड़ता, अज्ञान, कुरोग और पशुभाव बढ़ता है। अत: राजसिक और तामसिक खाद्य-द्रव्योंका परित्याग कर सात्त्विक आहार करना चाहिये। इसी कारण आर्यशास्त्रमें प्याज तथा लहसुन आदि राजसिक और तामसिक वस्तुओंका भोजन करना निषिद्ध है, यथा—

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च॥

(मनु० ५। ५)

लहसुन, गाजर, प्याज, कवक (कुकुरमुत्ता) (तथा विष्ठादि अपवित्र वस्तुसे उत्पन्न शाकादि) द्विजातियोंके लिये सर्वथा अभक्ष्य हैं। इन वस्तुओंके खानेसे मन, बुद्धि, शरीर, प्राण, आत्मा—सभी मलिन हो जाते हैं और ब्रह्मचर्यनाश, पशुभाववृद्धि, कामवृद्धि, चित्तचाञ्चल्य आदि उत्पन्न होकर आध्यात्मिक उन्नतिका मार्ग एकाएक बंद हो जाता है।

यह डॉक्टरी विज्ञान-सम्मत है कि स्पर्शसे एकके शरीरसे दूसरेके शरीरमें रोग संक्रमित होते हैं।

Miss Helen M. Mathews of the University of British Columbia demonstrated that bacili were readily transferred from one to another by even hand-shaking or shakehand.

अर्थात् मिस हेलेनने यन्त्रके द्वारा स्पष्ट प्रमाणित कर दिखाया है कि हाथके साथ हाथका स्पर्श होनेपर भी रोगके बीज एक दूसरेमें चले जाते हैं। केवल रोग ही नहीं, स्पर्शसे शारीरिक और मानसिक वृत्तियोंमें हेर-फेर भी हो जाता है। प्रत्येक मनुष्यमें एक प्रकारकी विद्युत्-शक्ति रहती है, जो मनुष्यकी प्रकृति और चरित्रके भेदसे प्रत्येकमें विभिन्न जातीय होकर स्थित है। तामसिकोंमें तमोमयी, राजसिकोंमें रजोमयी और सात्त्विकोंमें सत्त्वमयी विद्युत् विराजमान है। अन्तत: जिस वृत्तिके लोगोंके साथ रहा जाय, जिस वृत्तिके लोगोंका छुआ या दिया अन्न सेवन किया जाय; उसी प्रकारकी वृत्ति सहवासियों अथवा अन्न ग्रहण करनेवालोंमें संक्रमित होगी। भिन्न-भिन्न प्रकारकी

विद्युत्‌का प्रकृतिपरिणाम एक दूसरेपर हुए बिना न रहेगा। अत: चाहे जिसका भी हो, छुआ या दिया हुआ अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिये। हिन्दूशास्त्रोंमें नीच, अपवित्र, पापी और चाण्डाल आदिका छुआ अन्न ग्रहण करनेका जो निषेध है तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रको अलग-अलग पंक्तियोंमें बैठकर भोजन करनेकी जो आज्ञा है, इसका कारण भी यही है कि प्रत्येक वर्णकी विद्युत् (प्रकृति) जन्मसे ही विभिन्न प्रकारकी होती है और उसका अन्य प्रकृतिमें संक्रमण होना स्वाभाविक है। अपनेसे निम्न श्रेणीके लोगोंके साथ बैठकर भोजन करनेसे अपनी उच्चगुणविशिष्ट विद्युत् मलिन हो जाती है अथवा नाना जातिकी बिजलीके विपरीत संघर्षसे किसीका भी भोजन परिपक्व नहीं हो पाता।

भोजनके समय इन नियमोंका पालन करना आवश्यक है। एक वर्णमें पंक्तिभोजनके समय यह भी नियम अवश्य रखना चाहिये कि जितने व्यक्ति एक साथ बैठें, सभी भोजनका प्रारम्भ तथा समाप्ति एक ही साथ करें; क्योंकि पंक्तिमें भोजनके समय सबके शारीरिक यन्त्रमें क्रियाविशेष होनेसे तथा एक साथ बैठनेके कारण सभीके भीतर एक वैद्युतिक शृंखला (Electric line or circle) बन जाती है। उसीमेंसे जो आगे उठ जायगा, वह यदि दुर्बल है तो उसकी वैद्युतिक शक्तिको बाकी बैठनेवाले खींच लेंगे, जिससे उस पहले उठनेवालेके पेटमें भोजन पचेगा नहीं और वह दुर्बल हो जायगा। दूसरे उठनेवाला यदि अधिक शक्तिशाली है तो सारे बैठनेवालोंकी विद्युत्-शक्तिको वह खींचकर उठेगा, जिससे बाकी सभीके पेटमें विकार हो सकता है। अत: पंक्तिभोजनमें साथ ही बैठने-उठनेका नियम अवश्य रखना चाहिये। और यदि किसीसे अन्न लेना हो तो सत्पात्र देखकर उससे लेना चाहिये, क्योंकि पापियोंका अन्न ग्रहण करनेसे उसका पाप अपनेमें भी संक्रमित होगा। भीष्मपितामहने दुर्योधनका पापान्न ग्रहण किया था, इसीसे उनका ज्ञान लुप्त हो गया था और द्रौपदीके वस्त्रहरणके समय वे द्रौपदीकी रक्षा नहीं कर सके थे। जब इतने बड़े महात्माकी भी पापान्नके ग्रहण करनेसे बुद्धि पलटती है तो साधारण जीवोंकी तो बात ही क्या है? सारांश यह है कि सत्पात्रके यहाँका भोजनार्थ निमन्त्रण स्वीकार करना और सत्पात्रका ही अन्न ग्रहण करना चाहिये।

भोजनमें स्पर्शदोषकी तरह दृष्टिदोषके गुणका भी विचार आर्यशास्त्रमें किया गया है। केवल आर्यशास्त्रमें ही नहीं पश्चिमी विद्वानोंने भी स्पर्शदोषके साथ दृष्टिदोषके विषयमें बहुत कुछ विचार किया है। प्रसिद्ध विज्ञानवित् फ्लामेरियन (Flammarion) साहब कहते हैं—

What is this mysterious force, this something which flows through the nerves of the hand, to the finger tips? This mysterious force by some scientists called 'Ethereal Fluid', by others 'Fluid Force' starts from the brain, unites itself with the impulses, thoughts and acts, flows through the nerves, the same as the nervous fluid to each one of its three centres of radiation viz the hand, the eyes and the soles of the feet. From each one of these respective centres, this invisible recorder registers its particular results, but it is through the hand, where this emotional wireless, reveals its greatest power.

(The mysterious power which operates through the hand—Kalpaka)

वह कौन शक्ति है जो हाथकी नसोंके द्वारा अँगुलियोंके अन्ततक चली जाती है? इसीको वैज्ञानिकगण 'आकाशी शक्ति' कहते हैं। वह मस्तिष्कसे प्रारम्भ होती है, मनोवृत्तियोंके साथ जा मिलती है और स्नायुपथसे प्रवाहित होकर हाथ, आँख और पाँवकी एड़ीतक पहुँचती है। इन तीनोंके ही द्वारा दूसरोंपर यह अपना प्रभाव दिखाती है, किंतु इसका सबसे अधिक प्रभाव हाथकी अँगुलियोंद्वारा ही प्रकट होता है। अब आर्यशास्त्रीय विचार कहते हैं। यथा—

पितृमातृसुहृद्वैद्यपुण्यकृद्धंसबर्हिणाम् ।
सारसस्य चकोरस्य भोजने दृष्टिरुत्तमा॥

पिता, माता, सुहृद्, वैद्य, पुण्यात्मा, हंस, मयूर, सारस और चकवेकी दृष्टि भोजनमें उत्तम है। इनकी दृष्टि पड़नेसे अन्नका दोष दूर हो जाता है। चकवेके विषयमें मत्स्यपुराणमें लिखा है कि **'चकोरस्य विरज्येते नयने विषदर्शनात्।'** अन्नमें विष आदि दोष रहनेपर चकवे आँखें मूँद लेते हैं जिससे विषाक्त अन्नका पता लग जाता है। दृष्टिदोषके

विषयमें लिखा है—

हीनदीनक्षुधार्त्तानां पाषण्डस्त्रैणरोगिणाम्।
कुक्कुटाहिशुनां दृष्टिर्भोजने नैव शोभना॥

नीच, दरिद्र, भूखे, पाषण्ड, स्त्रैण, रोगी, मुर्गे, सर्प और कुत्तेकी दृष्टि भोजनमें ठीक नहीं होती है। उनकी विषदृष्टि अन्नमें संक्रमित होनेसे अजीर्ण रोग उत्पन्न होते हैं। अच्छी या बुरी दृष्टिमें कितनी शक्ति है सो आजकल मेस्मेरिज्म, हिप्नटिज्म आदि विद्याओंके द्वारा स्पष्ट प्रमाणित हो चुका है। यदि कभी इनमेंसे किसीकी दृष्टि अन्नपर पड़ जाय तो निम्नलिखित मन्त्र पढ़कर उसके अर्थका चिन्तन करते-करते भोजन करना चाहिये। यथा—

अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः।
इति संचिन्त्य भुञ्जानं दृष्टिदोषो न बाधते॥
अञ्जनीगर्भसम्भूतं कुमारं ब्रह्मचारिणम्।
दृष्टिदोषविनाशाय हनुमन्तं स्मराम्यहम्॥

अन्न ब्रह्माका रूप है और अन्नका रस विष्णुरूप है तथा भोक्ता महेश्वर हैं, इस प्रकार चिन्तन करते-करते भोजन करनेपर दृष्टिदोष नहीं होता। अञ्जनीकुमार ब्रह्मचारी हनुमान्‌को दृष्टिदोषनाशार्थ मैं स्मरण करता हूँ, ये ही सब भोजनके विषयमें नियम हैं।

दिनमें एक ही बार भोजन करना चाहिये। 'आपस्तम्ब' में लिखा है कि '**दिवा पुनर्न भुञ्जीत नान्यत्र फलमूलयोः**' तात्पर्य यह कि दिनमें एक ही बार भोजन करना चाहिये; परंतु क्षुधाबोध होनेपर फल-मूल आदिका आहार कर सकते हैं।

किसी वस्तुसे माथा लपेट कर और जूता पहनकर भोजन करना उचित नहीं—

यो भुङ्क्ते वेष्टितशिरा यश्च भुङ्क्ते विदिङ्मुखः।
सोपानत्कश्च यो भुङ्क्ते सर्वं विद्यात् तदासुरम्॥

किसी वस्तुसे माथा लपेट कर तथा शास्त्रनिषिद्ध दिशाकी ओर मुख करके और जूता पहनकर, खाना आसुरी प्रकृतिका लक्षण है। रात्रिमें हलका भोजन करना चाहिये। क्योंकि निद्रावस्थामें स्नायुशक्ति दुर्बल रहती है, उस समय गम्भीर भोजनका परिपाक ठीक नहीं होता। दिन या रात्रिका भोजन ऐसा न हो, जिसमें खूब चरपरे मसाले पड़े हों और जो आसानीसे पच न सके, न पचनेवाले भोजन करनेसे शरीर और मन दोनों बिगड़ते हैं। अतः सहजमें पचनेवाले हलके पदार्थ ही खाये जायँ। संध्याके समय भोजन न करे; क्योंकि संध्याके समय भूत-प्रेतोंकी दृष्टि अन्नपर रहती है। उनकी अन्नपर आसक्ति रहनेसे उस समय अन्न ग्रहण करनेवालोंके अन्नपरिपाकमें संदेह रहता है। इसी तरह अधिक रात बीत जानेपर भी भोजन न करे; क्योंकि भोजनोत्तर कम-से-कम दो घंटे जागकर तब सोना चाहिये। ऐसा न करनेसे अन्न नहीं पचेगा। अन्नके न पचनेसे गाढ़ निद्रा नहीं लगेगी। अच्छी नींद न आनेसे नाना प्रकारके स्वप्न दीख पड़ेंगे और निद्राभङ्ग होगा; जिससे स्वास्थ्य ठीक नहीं रहेगा। भोजन कर लेनेके कुछ समय पश्चात् जल पीना चाहिये। वह स्वच्छ, लघु, शीतल, सुगन्धित, स्वयं स्वादहीन, हृद्य और तृष्णानिवारक हो। जलके विषयमें महर्षि यमने कहा है—

दिवार्करश्मिसंस्पृष्टं रात्रौ नक्षत्रमासितैः।
संध्ययोश्च तथोभाभ्यां पवित्रं जलमुच्यते॥

दिनमें सूर्यकिरण, रात्रिको चन्द्र-किरण और सन्ध्याओंमें दोनों किरणोंसे संस्पृष्ट जल ही उत्तम है। जिस जलपर सूर्यकिरण नहीं पड़ते अथवा जिस जलको वायु नहीं सोखती, वह अति स्वच्छ रहनेपर भी कफ उत्पन्न करता है। उस जलको गरम करके ठंडा होनेपर पिये। ऐसा जल काश, श्वास, ज्वर, कफ, वात, आम और अजीर्णका नाश करता है। नारियलका जल मधुर, पाचक और पित्तशामक होता है। लाल नारियलके जलमें केवल पित्तशमनका ही गुण है। सोडावाटर, लेमनेड आदि क्षारयुक्त जल इस देशके आहार-विहार और जलवायुके लिये सर्वथा अनुपयुक्त और अपथ्यकर है।

जल पीनेके विषयमें भावप्रकाशमें लिखा है—

अत्यम्बुपानाच्च विपच्यतेऽन्न-
मनम्बुपानाच्च स एव दोषः।
तस्मान्नरो वह्निविवर्धनाय
मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि॥

अर्थात् बहुत जल पीनेसे तथा बिलकुल ही न पीनेसे अन्नका परिपाक नहीं होता। इसलिये पाकाग्निके बढ़ानेके लिये बार-बार थोड़ा-थोड़ा जल पीना चाहिये।

आर्यशास्त्रमें मिताहारकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। मिताहारके लक्षणके विषयमें लिखा है—

कुक्षेर्भागद्वयं भोज्यैस्तृतीयं वारि पूरयेत्।
वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्॥

उदरका दो भाग भोज्य-पदार्थोंसे तथा तीसरा भाग

जलसे पूर्ण किया जाय और चौथा भाग वायु संचारके लिये खाली रखा जाय, यही मिताहारका लक्षण है। इससे आयु बढ़ती है, रोगका नाश होता है तथा बल और सुखका लाभ होता है।

भुक्त्वा पाणितलं धृष्ट्वा चक्षुषोर्यदि दीयते।
अचिरेणैव तद्वारि तिमिराणि व्यपोहति॥
स्वर्यातिश्च सुकन्यां च च्यवनं शक्रमश्विनौ।
भोजनान्ते स्मरेद् यस्तु तस्य चक्षुर्न हीयते॥

भोजनके बाद मुखप्रक्षालन करना चाहिये, जिससे मुखमें उच्छिष्ट न रहे। तदनन्तर 'स्वर्याति' आदि मन्त्रपाठ करते हुए आर्द्र हस्तद्वय घर्षणपूर्वक दोनों चक्षुओंमें तीन बार लगानेपर दृष्टिशक्ति अच्छी होती है। तदनन्तर क्या करना चाहिये, उसके लिये लिखा है—

भुक्त्वा राजवदासीत यावन्न विकृतिं गतः।
ततः शतपदं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत्॥
एवं चाधोगतश्चान्नं सुखं तिष्ठति जीर्यति॥

भोजनके बाद पहले वीरासनमें बैठना चाहिये, पश्चात् शतपद घूमकर वामपार्श्वमें सोना चाहिये। भावप्रकाशमें लिखा है कि—

वामदिशायामनलो नाभेरूर्ध्वेऽस्ति जन्तूनाम्।
तस्मात्तु वामपार्श्वे शयीत भुक्तप्रपाकार्थम्॥

नाभिके ऊपर वामपार्श्वमें अग्नि रहती है, इसलिये वामपार्श्वमें सोनेपर अन्नका परिपाक अच्छा होता है।

भोजनके बाद कठिन परिश्रम कदापि नहीं करना चाहिये, उससे रक्त-संचालन अधिक होनेपर पाकक्रियामें बाधा होती है। इसलिये लिखा है—

अनायासप्रदायीनि कुर्यात् कर्माण्यतन्द्रितः।

जिससे परिश्रम न हो, इस प्रकारके हलके काम कर सकते हैं वैद्यकशास्त्रमें और भी लिखा है—

भुक्त्वोपविशतस्तन्द्रा शयानस्य तु पुष्टता।
आयुश्चंक्रममाणस्य मृत्युर्धावति धावतः॥

भोजनके बाद बैठे रहनेसे शरीरमें भारीपन और इन्द्रियोंमें शिथिलता आने लगती है, सोये रहनेसे शरीर पुष्ट होता है, थोड़ी देर पादचारण करनेसे आयु बढ़ती है और खाते ही दौड़नेसे मृत्यु भी पीछे-पीछे जाती है। ये सब आहारके नियम हैं। इनका पालन करना चाहिये।

भगवद्भजनसे रोगोंका नाश

(ब्रह्मलीन श्रीमगनलाल हरिभाईजी व्यास)

'**भोगापवर्गार्थं प्रकृतेरात्मा**' इस सूत्रके अनुसार यह शरीर भोग और मोक्ष दोनोंके लिये है। इसलिये शरीरकी रक्षा सदैव करनी चाहिये, इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

श्रीअष्टावक्रजी महाराज श्रीजनकसे कहते हैं—'हे जनक! श्रमका नाम ही दु:ख है। जिसमें थकान लगे उसका नाम श्रम है और जिसमें श्रम न हो उसका नाम है सुख। श्रम शारीरिक और मानसिक दो प्रकारका होता है। शारीरिक श्रमकी अपेक्षा मानसिक श्रम अधिक हानिकारक है। परमाणु कम होनेसे जो शरीरपर प्रभाव पड़ता है, उसीका नाम श्रम है। मनके परमाणु कम होनेसे—क्षीण होनेसे उनकी पूर्ति विलम्बसे होती है, इससे वह विशेष दु:खदायी होता है। शरीरके परमाणु कम होनेसे उनके स्थानपर नये परमाणु शीघ्र आ जाते हैं—अत: दु:ख कम होता है। यही है शरीर और श्रमका सिद्धान्त। इसलिये जैसे भी शरीर और मनको थकान न लगे वैसा ही काम करना चाहिये। परमाणु घिसनेसे लेकर नये परमाणु आनेतक बीचमें जो घिसनेकी और पूर्तिकी क्रिया होती है, उसीको रोग अथवा ज्वर आदि नामसे पुकारा जाता है। इससे छुटकारा पानेके लिये मानसिक चिन्ता और श्रमका त्याग करके विश्राम करना चाहिये। इसके लिये आनन्द और प्रसन्नता बहुत ही उत्तम औषधि है। इसलिये शान्ति और आनन्दके साथ जीवन व्यतीत हो, वैसी ही व्यवस्था करनी चाहिये।'

यह शरीर पञ्चतत्त्वोंका बना है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। निचले तत्त्वसे ऊपरका तत्त्व दूषित होता है, जैसे जलमें पृथ्वी (मिट्टी) मिले तो जल कीचड़युक्त हो जाता है। तेज (अग्नि)-में जल डाले तो धुआँ पैदा होता है। यही बात जगत्के सभी पदार्थोंके विषयमें समझनी चाहिये। नीचेका तत्त्व ऊपरके तत्त्वसे शुद्ध होता है, जैसे गंदाजल उबालनेसे शुद्ध होता है, तेज

वायुसे शुद्ध होता है अर्थात् अग्नि बिना वायुके नहीं जलती। उसी प्रकार वायु आकाशसे शुद्ध होता है अर्थात् बंद स्थानका वायु दूषित और खुले आकाशका वायु शुद्ध होता है। इन बातोंपर अच्छी तरह विचार करके साधकको इन्हें अपने जीवनमें लाना चाहिये। श्रम करनेसे शरीरके जो परमाणु घिसकर नष्ट होते हैं, वे मलके रूपमें बाहर आते हैं। उन परमाणुओंकी पूर्तिके लिये शरीरके अंदरसे जो आवाज आती है उसीका नाम है भूख। इसीलिये शरीरको जीवित रखनेके लिये आहारकी आवश्यकता होती है। शरीरके परमाणु तो आहारसे मिल जाते हैं, परंतु उससे थकान नहीं मिटती है। यदि ऐसा सम्भव होता तो मनुष्य खाता रहता और रात-दिन काम भी करता रहता, परंतु ऐसा होता नहीं है। थकान तो निद्रासे ही दूर होती है। निद्राका अर्थ है मनको आराम—मनकी निश्चिन्तता। तात्पर्य मनुष्यको काम करके विश्राम करना चाहिये। विश्राम भी दो प्रकारका होता है—१-जाग्रद् विश्राम और २-निद्रित विश्राम। निद्रामें विश्राम तो सभी लेते हैं, परंतु जाग्रद् विश्राम तो इस जमानेमें विरले ही जानते हैं। मन भी पाँच सूक्ष्म भूतोंका बना है, उनमेंसे आकाश थकान दूर करता है तथा उसके दूसरे नम्बरपर है वायु। इसीलिये दिनमें काम करनेके पश्चात् खुले आकाशमें शुद्ध वायुमें शान्तिपूर्वक बैठना चाहिये। खेल, मनोरंजन अथवा बातचीतसे पूर्ण आराम नहीं मिलता। शान्तिपूर्वक प्राकृतिक सौन्दर्यको देखते हुए निर्विचार अवस्थामें अथवा आत्म-विचारमें बैठनेसे पूर्ण विश्राम मिलता है।

बहुतसे लोग कहते हैं कि हम अमुक काम करनेसे बहुत थक जाते हैं, अतः अब वह काम नहीं करेंगे। परंतु सत्य बात तो यह है कि मनुष्य कामसे कम थकता है, परंतु चिन्ता करने, बहुत बोलने और क्रोध करने—इन तीन बातोंसे बहुत थकता है। इसे एक उदाहरणसे समझें—एक मनुष्य एक घंटा भगवन्नाम लिखनेसे उतना नहीं थकता, जितना एक घंटा बोलनेसे थकता है। इसलिये मनुष्यको आवश्यक होनेपर भी बहुत कम बोलनेका अभ्यास करना चाहिये और अपने सभी काम नियमित करने चाहिये। दिनमें करनेवाले कार्योंकी एक सूची प्रातःकालमें तैयार कर लेनी चाहिये और सायंकाल उनका निरीक्षण करना चाहिये। जो काम हो गये हों, उन्हें चिह्नित कर देना चाहिये।

रोग, दुःख और दर्द पापके फल हैं—वे पुण्य और भगवद्भजनके बिना समाप्त नहीं हो सकते, इसलिये अधिक-से-अधिक भजन करना चाहिये। भगवन्नाम-जपसे दुःख मिटता है, यह मेरे अनुभवकी बात है। जप और भजनसे ही मेरे बहुत-से दर्द मिटे हैं। मुझे दमा हो गया था, मेरे एक मित्रने कहा कि अब यह शरीरके साथ ही समाप्त होगा। जो दमा मुझे वर्षोंसे पीड़ा दे रहा था, भगवद्भजन करनेसे वह एक रातमें ही न जाने कहाँ छूमन्तर हो गया। एक बार मैं बहुत बीमार पड़ा, डॉक्टर भी निराश हो गये, परंतु प्रणवके जपसे मैं ठीक हो गया। एक समय अचानक ही मेरे सिर और कानमें बहुत तेज दर्द प्रारम्भ हुआ, परंतु वह भी एक घंटेमें समाप्त हो गया। यह सब भगवान्‌की दयाका प्रताप है। मनुष्यको बहुत दयालु होना चाहिये—अन्तःकरणमें दया होना और मन एवं शरीरसे ईश्वरका भजन करना चाहिये। किसीका अपमान तो कभी न करे, परंतु किसीकी भलाई करनेका अवसर हाथसे न जाने दे। अभिमान न करे, अपने दोष देखते रहे, सबके प्रति कपटरहित सरल वाणी बोले। इतना करे तो दुःख और दर्दमें परमात्मा शीघ्र आराम करते हैं।

ईश्वरका भजन करनेवाले व्यक्तिके जीवनमें विघ्न और दुःख आते तो हैं, परंतु थोड़े समयमें ही चले जाते हैं। जिस दुःख-दर्दमें भगवद्भजन न हो उसे बहुत बड़ा विघ्न समझना चाहिये। निष्काम कर्मका एक यही फल है कि भगवान्‌का भजन अधिक-से-अधिक हो। रोगोंसे छुटकारा पानेके लिये दवा और ईश्वर-भजन—ये ही दो उपाय हैं। जहाँ दवा नहीं काम करती, वहाँ ईश्वर-भजन काम करता है—***'हारे को हरि नाम।'***

भगवन्नाम-जप समस्त रोगोंको मिटानेका अमोघ साधन है। इसलिये दुःख और रोगमें मनुष्यको दवाके साथ भगवद्भजन भी करना चाहिये।

रोग मात्र पापका फल है और सुख पुण्योंका फल है। दुःख, रोग और पापोंका नाश करनेमें निष्काम कर्म-जैसा कोई अन्य उपाय नहीं है। परमात्माकी निष्काम सेवासे सभी दुःख और रोग नष्ट हो जाते हैं। प्रभु भोग और मोक्ष दोनोंके दाता हैं—इससे भगवान्‌का भजन निष्कामभावसे करना चाहिये। **'हरिः ॐ तत्सत्!'**

[प्रे०—रजनीकान्त शर्मा]